रंग विमर्श

▪ डॉ. सतीश पावडे

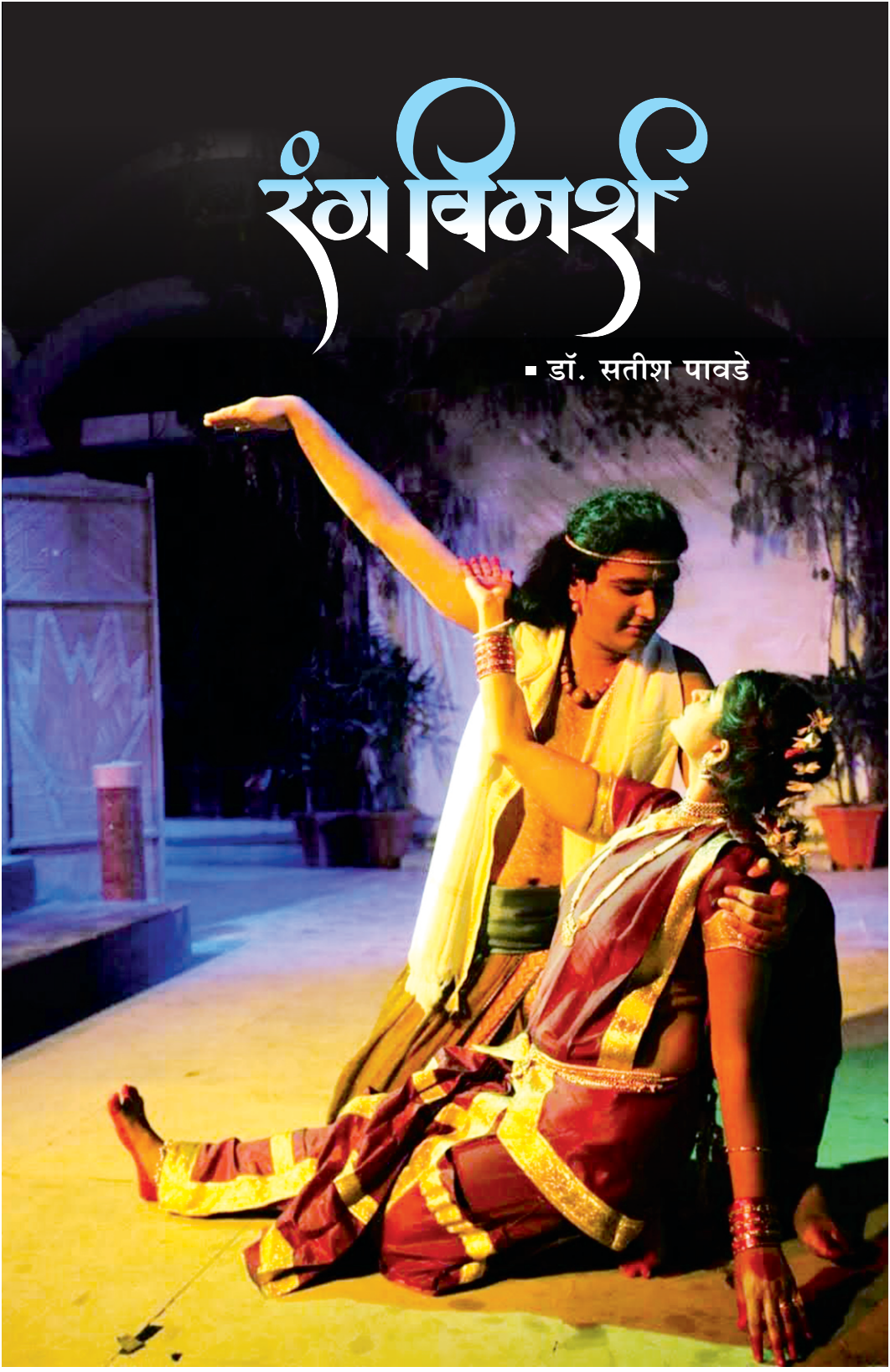

रंग विमर्श

डॉ. सतीश पावडे

रंगविमर्श

डॉ. सतीश पावडे
'गाथा', ९५, आशा कॉलनी, तपोवन रोड, अमरावती-४४४६०२
ई-मेल: satishpawade1963@gmail.com
भ्रमणध्वनी : ९३७२१५०१५८, ९४२२५३५१५८

प्रथम संस्करण : २७ मार्च २०२०

ISBN : 978-81-922681-6-3

© **डॉ. निशा शेंडे**
'गाथा', ९५, आशा कॉलनी, तपोवन रोड, अमरावती-४४४६०२

आवरण	आवरण चित्र
सी.डी. शिवणकर	**शेखर सोनी**
नाटक	निर्देशक
मृच्छकटिक	**डॉ. सतीश पावडे**
प्रकाश आलोकन	कलाकार
धर्मप्रकाश 'मंटो'	**कविता चौहान, प्रितेश पांडे**

कम्पोजिंग / टाईप सेटींग / मुद्रण
स्कॅन डॉट कॉम्प्युटर, महाल, नागपूर, मोबा. ९८२२५६५७८२

प्रकाशक
"शब्दसृष्टि", भारतीय साहित्य कला एवं सांस्कृतिक प्रतिष्ठान
बी-१३०१, हरी हेरिटेज, प्लॉट नं. १७ ए, सेक्टर-२२,
खांदेश्वर रेल्वे स्टेशन के सामने, कामोठे, नवी मुंबई-४१० २०९
email : shabdasrishti@gmail.com
website : www.shabdasrishti.org
भ्रमणध्वनि : 8108842200, 9870255527

मूल्य : २०० रु.

अर्पण

उषा गांगुली
निरंजन गोस्वामी
प्रोबीर गुहा
प्रो. रवि चतुर्वेदी

जिनका रंगकर्म
हमेशा मेरे लिए
प्रेरणा और उर्जा का स्त्रोत रहा है....
उन्हें मेरा
'रंग विमर्श'
विनम्रतापूर्वक समर्पित

- सतीश

अनुक्रमणिका

- आमुख / ६
- स्वकथन / ११
- मेरी रंगयात्रा / १३

रंगबोध की शास्त्रीयता

- भरत के नाट्यशास्त्र में वणभेद / २३
- नाट्यशास्त्र में भाषा-संस्कृति और समाज / ३१
- नाट्यशास्त्र में दृश्यकला और रस / ३७
- दृश्यकला एवं विन्यास में रस / ४४
- नाट्यकला और दृश्यकला का अंतर-संबंध / ५१
- पुराणों में नाट्यकला / ५८
- नाटक 'अभिज्ञान शाकुंतल' में प्रकृति / ६५
- नाट्यशिक्षण - नाट्य प्रशिक्षण का निर्माणवाद / ७२
- मोहन राकेश की 'ध्वनि नाट्यभाषा' / ७६

'माध्यम' - रंगमंच

- नाटक-रंगमंच का तुलनात्मक अध्ययन / ८२
- हिन्दी रंगमंच का उत्तर आधुनिक चरित्र / ९१
- सामाजिक परिवर्तन का 'माध्यम' - रंगमंच / ९६

अनुभूति और अनुभव

- नाट्यानुवाद-नाट्य रूपांतरण प्रक्रिया - मेरे अनुभव / १००
- 'अंधेरे में' - निर्देशन की अनुभूति / १०४

प्रतिरोध की सर्जना

- हिंदी के नारीवादी नाटकों में प्रतिरोध / १०९
- मराठी स्त्री कलाकारों का सर्जनात्मक प्रतिरोध / ११६
- नुक्कड़ नाटक : प्रतिरोध से प्रचारतंत्र तक / १२१

रंग - विविधा

- हिन्दी-मराठी नाटकों में गाँधी / १२५
- महात्मा फुले का नाटक - 'तृतीय रत्न' / १२९
- एल.जी.बी.टी. और मराठी नाटक / १३७
- भारतीय दलित - आदिवासी लोक रंगमंच / १४३
- रंगमंच और विकलांग युवा दर्शक / १४७
- मराठी लोकनागर रंगमंच / १५१

नाट्य प्रबोधन

- झाडीपट्टी नाट्य प्रबोधन / १६२
- अखबार और नाट्य समीक्षा / १६६

साक्षात्कार

- सामाजिक प्रतिबद्धता के बगैर रंगमंच की सार्थकता नहीं! / १७१

परिशिष्ट

- प्रकाशित पुस्तकें / १८३
- प्राप्त पुरस्कार एवं सम्मान / १८४

आमुख

... उन्हें रंगबोध का बोधिसत्व प्राप्त होगा!

मराठी नाट्यकला की रंगमंचीयता से हिन्दी नाट्य कला की दुनिया में आये नाट्यकर्मी डॉ. सतीश पावडे एक नाट्यधर्मी कलाकार के साथ-साथ नाटक के अनुषंगी अवयव के सार्थक 'नट' भी हैं। नाटक लेखन के साथ-साथ नाट्य-निर्देशन के कोर-पक्षों पर अपनी अभिनित नाट्यशैली के कारण विदर्भ क्षेत्र के साथ देश के अन्यान्य प्रदेश में भी डॉ. सतीश पावडे जाने जाते हैं। मराठी से हिन्दी और हिन्दी से मराठी में स्वयं अनुदित अनेक प्रसिध्द नाटकों के नाट्य निर्देशन से इनके रंग-निर्देश के तात्विक लक्षणों की पहचान होती है। काव्य की नाट्य प्रस्तुति में भी डॉ. सतीश पावडे अपनी पहचान रखते हैं। मुक्तिबोध की लम्बी कविता 'अंधेरें में' की नाट्य प्रस्तुति के लिए डॉ. सतीश पावडे विशेष रूप से जाने जाते हैं।

नाटक की रचना और संरचना के पारखी डॉ. सतीश पावडे नाट्य-रूपांतरण की प्रक्रिया से बखूबी गुजरते हैं। कथा हो या काव्य, इनके नाट्य-रूपांतरण से लगता नहीं कि मूल कथा रचना का नाट्य-रूपांतरण प्रस्तुति के पटल पर रूपांतरण है, बल्कि मूल की प्रस्तुति का प्रभास-सा लगता है। वस्तुतः यह निर्भर करता है नाट्यकर्मी के नाट्य धर्म पर कि वह इस विधा से कितनी संवेदना से जुड़ा है; क्योंकि कला भी संवेदना की गहराई पर ही निखरती है। जीवन में जितनी संवेदना, जीवन उतना ही मर्मस्पर्शी! रूपांतरण हो, निर्वचन हो या अनुवाद, दूसरी भाषा के काया-प्रवेश से ही मर्म की मीमांसा होती है और रंगकर्म तो कायाप्रवेश क्रिया का साक्षात् अवतार ही है। ऐसे में नाट्य-भाषांतरण की संवाद भाषा में डॉ. पावडे काल और परिवेश की परिस्थिति पर रंग-निर्देश का ध्यान रखते हैं, जिससे दर्शक नाट्यरस का आनंद उठाता ही है। साहित्य-परम्परा की कोई नवोन्मेषित प्रतिभा के न होते हुए भी नाट्य-विधा की नूतनता से वेष्ठित अपने रंगकर्म की रचना में प्रवृत्त रहना और उसमें रमे रहना इनके स्वभाव में समाहित है।

नाट्य की विविधा में लोकनाट्य का कलाशिल्प और लोक का मर्म जब संवाद-शिल्प में ढलकर भाषा-सम्प्रेषण का माध्यम बनता है तभी कथ्य और प्रस्तुति मार्मिक बनती है। इस परिप्रेक्ष्य में सतीश पावडे का लोक-धर्म धर्मित होता दिखाई देता है। नुक्कड़ नाटक अपने समकालीन बोध से उपजा समाज के चौराहे पर की प्रभावी प्रस्तुति है जिसे रंगकर्मी का रंगनिर्देश ही समुन्नत बनाता है। डॉ. पावडे द्वारा प्रस्तुत विभिन्न काल परिवेश पर प्रस्तुत नुक्कड़ नाटक सम्मान के भागीदार भी बने हैं। लोकनाट्यों की प्रस्तुति में लोकसंवेदना प्रवाहित होती दिखती है, चाहे वह लोकनाट्य मराठी लोक का हो या हिन्दी लोक का; यहाँ तक कि वे भोजपुरी लोक के गंध से सुवासित भिखारी ठाकुर की 'विदेशिया' को भी अपने ही अनुभूत अनुभव की अभिनिति मानते हैं और उनकी 'झाड़ीपट्टी' मराठी मर्म लोकनागर रंगमंच की सुन्दर प्रस्तुति है जिसे वे लोकनागर रंग की विशेष अनुभूति मानते हैं।

'मृच्छकटिकम्' डॉ. सतीश पावडे के लिए भारतीय सांस्कृतिक संस्कार की मिथकीय सहोदरता है तो 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' संस्कृत वाङ्मय में उद्भूत शकुन्तला को अभिज्ञान बनाने की अद्भुत प्रेयस और श्रेयस गाथा है। वहीं उनके लिए 'धुव्रस्वामिनी' नारी सम्मान का सांस्कृतिक जागरण है तो 'आषाढ़ का एक दिन' की मल्लिका में शकुन्तला का मर्म है और मातृगुप्त तो स्वयं कालिदास का उत्स है, जहाँ रिश्तों की बुनियाद को भूल पाना मुश्किल होता है।

मुक्तिबोध के 'अंधरे में' डॉ. पावडे को समकालीन समय के स्वार्थ से भविष्यगत अंधेरे में धुंध का बिम्ब ही दिखाई देता है और वहीं इससे बड़ी परिलब्धि-उनको 'अंधायुग' के कृष्ण से मिलती है। प्रसाद का 'कामना' उनको मानव मन के स्वाभाविक स्वार्थ-सा प्रस्तुत होता है तो मोहन राकेश का 'लहरों के राजहंस' जीवन के लहरों पर कैसे हंस की तरह हिचकोले खाते हुए जीया जा सकता है, इसका एक अलग नाट्य रस उन्हें प्राप्त होता है। यह सब उनकी नाट्य-संवेदना के मानवीय स्फुलिंग हैं, जिसमें ये जीते हैं और मरते हैं नाट्यरस ले लेकर।

जिस तरह भारतीय वाङ्मय साहित्य में नौ रसों का समागम, यथा भक्ति में नवधाभक्ति का आविर्भाव और जीवन में नवग्रहों की प्रभाविता तथा अंकविद्या के गणित से नौ अंकों की पूर्णता जीवन व्यवहार को परिपूर्ण करने की साधना

है, ठीक उसी तरह नाट्यविद्या साहित्य में होकर भी साहित्य के पर से अपर विद्या के स्वरूप में अपनी नवम् साधना की भाव प्रस्तुति से नाट्य को कला का अनुभाव बना देती है, जिससे नाट्य साधना की निम्न शब्दावलियाँ रंगशिल्प को सौंदर्य प्रदान करती हैं। यथा- रंगभाषा, रंगतत्व, रंगकर्म, रंगनिर्देश, रंगमंच, रंगशब्द, रंगदृष्टि, रंगशैली तथा रंगयात्रा अविकल अप्रत्यक्ष प्रस्तुतियाँ, जो नाट्य प्रस्तुति में जीवन त्राण देती हैं। किसी भी रंगकर्मी के लिए इनका अवधान होना आवश्यक है। डॉ. सतीश पावडे इस नवरंग साधना से साधित हैं इसलिए इनकी रंग प्रस्तुति अपनी हो जाती है और दर्शक इनके नटरंग से रंजित हो जाते हैं।

कथोपकथन के भाव में अनुभाव का आरोपण **रंगभाषा** का मूर्त स्वरूप प्रस्तुत करता है। पदार्थ की तीनों अवस्थाओं से परे नाट्याभाषा का मूर्त अनुभूत होना नाट्यरंग का **रंगतत्व** प्रतिभाषित कर देता है, चूँकि तत्व सूक्ष्म अनुभूति भी है, अस्तु रंगतत्व रंगरचना से लेकर रंग प्रस्तुति तक संवाद में, यहाँ तक कि ध्वनि व प्रकाश में भी तात्विक अनुभूति ही रंगकर्म का रंगतत्व नाट्यरचना को उत्कृष्ट बनाता है। जयशंकर प्रसाद, धर्मवीर भारती, मोहन राकेश आदि की नाट्यरचना में रंगतत्व का विशेष फलक खुलता एवं खिलता है तथा दिखता और अनुभूत होता है।

कर्म को क्रियान्वित करने की जहाँ भी उत्कण्ठा, आभास और अभ्यास से प्रेम होता है, **रंगकर्म** वहीं प्रतिशतः प्रतिफलित भी होता है, यह रंगकर्मी की अंतःक्रिया की अनुकृति होती है जो उसके अभिनय को अभिनव बना देती है।

रंगनिर्देश नाट्य प्रस्तुति हेतु नाट्यरचना में तथा नाट्यरचना की भूमिका में इंगित किया गया नाट्यनिर्देशकों के लिए आवश्यक रंगप्रस्तुति से संदर्भित निर्देश या कहें कि अभिमत होता है, जिसे नाट्य निर्देशक कितना सहोदर बनाते हैं, यह उनकी कला-मीमांसा पर निर्भर करता है। परंतु यह चरम है कि रंगनिर्देश नाट्य-रचनाकार की आत्मा होती है, जिसे रंगनिर्देशको कों अपने में अनुस्यूत करना चाहिए।

'रंगमंच ये दुनिया सारी, हर इंसान अभिनेता है', संदर्भ रंग प्रस्तुति के हेतु नाट्यरंगानुसार सुसज्जित मंच **रंगमंच** के अर्थ में अर्थित है, जिस पर नाटक की सफलता निर्भर करती है। यह नाट्य प्रस्तुति का प्रत्यक्ष कारक है जिसके बिना

अविकल नाट्य प्रस्तुति संभव ही नहीं होती, इस प्रस्तुत साक्ष्य की भूमिका प्रत्यक्ष और वस्तुगत सौंदर्य का विभावन है। इस वागर्थ में रंगमंच वागर्थित होता है। जयशंकर प्रसाद की 'काव्य, कला और अन्य निबंध' इसे अभिप्रेत करते हैं। इसे दृष्टि में लाना रंगकर्म की नाट्यनवम्साधना का प्रतिफल होता है

जिसके वाचन से शब्द की अभिनेयता के साथ अंग की अभिनेयता दृष्टिगत हो जाय उसे **रंगशब्द** की संज्ञा से अभिहित करते हैं। दरअसल नाटक की रचना और वाचन तथा अवाचन की प्रस्तुति में शब्द न्याय जहाँ आंगिक हो जाय, रंगशब्द वहीं अर्थित होता है और सच पूछिए तो नाट्यरचना हेतु और नाट्यप्रस्तुति में भी शब्द की वाचिक और अवाचिक अभिनेयता ही नाट्यकला के जान होते हैं, जिसे रंगशब्द कहना अभिहित होगा। नाट्यलेखन की और नाट्यप्रस्तुति के अलग-अलग छविचित्र होते हैं, जिससे नाट्य रचना में एक दृष्टिबोध बोधित होता है। वही पाठक, दर्शक और रंगनिर्देशक तथा अभिनेता में भी सातत्य झलकता है। यह दृष्टिबोध ही **रंगदृष्टि** को समृध्द करता है, अस्तु, रंगदृष्टि नाट्य-रचना-कला की अंतःआत्मा होती है; जो प्रस्तुति से लेकर पाठकीयता को भी प्रभावित करती है और यह नाटक की सफलता भी है।

सभी की अपनी-अपनी जीवन शैली होती है, ठीक उसी तरह हर विधा की अपनी-अपनी शैली होती है, जिसे रीति भी कहते हैं। आचार्य विद्यानिवास मिश्र रीति के रीतिगुण के इतने रीतिभाविक थे जो उनकी सर्जना में संस्कारित होती चली गयी। उनकी रीतिधर्मिता आत्म का भाव बोध कराती है और यही जीवन शैली को संस्कार देती है, अतः सर्जना की इस **रंगशैली** में भी वही रीतिभाविता रसप्रवाह देकर रंगशैली को रंजित करती है। परिप्रेक्ष्य यह कि नाट्यरचना की अपनी एक नाट्यशैली होती है, जिस पर उसकी सम्पूर्ण सफलता निर्भर करती है। ज्ञात हो कि शैली पर परिवेश और काल की प्रभाविता पूर्णतः प्रभावित होती है और नाट्यशैली में तो एक आवश्यक कारक के रूप प्रतिपादित होती है, अस्तु, रंग शैली नाट्यरचना और नाट्यप्रस्तुति की प्राणवायु है, जिसके बिना नाट्य कला की रचना और प्रस्तुति अधूरी हो जाती है।

इस तरह नाट्यकला की नवम् साधना से **रंगयात्रा** पूर्ण होती है, अतः रंगयात्रा नाट्यकला की पूर्णता की द्योतक है, संतुष्टि की इष्ट है और है यात्रा

की निरंतरता जिससे रंगनिर्देश निखरता है तथा रंगसृजन उत्कृष्ट होकर सफलता का शिखर चूमता है। डॉ. सतीश पावडे अपने रंगकर्म से रंगसृजन के उस शिखर को चूमने में रंगयात्रा का महाभिनिष्क्रमण कर चुके हैं, उन्हें रंगबोध का बोधिसत्व अवश्य प्राप्त होगा!

एक लेखक, समीक्षक, रंगचिंतक के रूप में उनकी यह पुस्तक भी उनकी रंगयात्रा की परिचायक है। उनका रंगबोध इस पुस्तक में समाहित सभी आलेखों में झलकता है। 'रंग विमर्श' रूपी उनके इस रंगचिंतन से पाठकों का रंगबोध भी समृध्द होगा!

❑ **डॉ. डी.एन. प्रसाद**

प्राध्यापक

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय,

गांधी हिल्स, वर्धा-४४२००१ (महाराष्ट्र)

मो. ०९४२००६३३०४

ई-मेल : dnpsayal@yahoo.co.in

■■■

स्वकथन

नाटक और रंगमंच की चर्चा 'रंगविमर्श के बिना अधुरी होती है, यह मेरी धारणा है। तर्क और प्रश्न रंग विमर्श की अनिवार्य इकाई है। रंगमंच और नाटक के संदर्भ में हमारे कई प्रश्न हो सकते हैं, हमारे कई तर्क हो सकते हैं। उसका उत्तर प्राप्त करना और हमारी रंग साधन को समृद्ध बनाना रंगप्रक्रिया का महत्वपूर्ण उद्देश्य होता है। रंग-प्रक्रिया और रंग-विमर्श सहोदर होते हैं। किसी भी रंगकर्मी को इन दोनों अनुभवों से गुजरना आवश्यक होता है। रंग चेतना एक विकसनशील तत्व है, वह कई बार निरपेक्ष होते हुए भी सापेक्ष होती है। मेरी सापेक्षता की अभिव्यक्ति के रूप में 'रंगविमर्श' विनम्रतापूर्वक आपके समक्ष प्रस्तुत है।

'रंग विमर्श' समय-समय पर लिखे प्रासंगिक लेखों का संग्रह है। अध्ययन-अध्यापन प्रक्रिया में उपजे प्रश्न और उसके उत्तर ढूँढ़ने के प्रयास में यह लेख लिखे गये हैं।

'विमर्श' सभी लेखों का सूत्र है। अकादमिक मर्यादाओं में अपनी समीक्षा को गंभीरतापूर्वक प्रस्तुत करने का प्रयास मैंने किया है। संपूर्णता और सर्वोत्तम का दावा मैं नहीं करता हूँ। बस एक शोधार्थी की भूमिका में उपलब्ध कथ्य और तथ्य के यथार्थ का अन्वयार्थ खोजने का प्रयास मैंने किया है। नाट्यशास्त्र हमेशा मेरी जिज्ञासा का विषय रहा है। मैं उसे इतिहास और समाजशास्त्र की दृष्टि से समझना चाहता हूँ। 'विन्यास' मुझे अनंत संभावनाओं का विषय लगता है। विविध रंग आंदोलन, माध्यम के रूप में रंगमंच की शक्ति, रंगमंचीय सिद्धांत, हिंदी-मराठी नाटकों की रंग विशेषता, नाट्यानुवाद, नाट्य-रूपांतरण, निर्देशन की प्रक्रिया, रंगमंच की विविध इकाईयाँ, रंगमचं का उद्‌भव-विकास रंगमंच की सामाजिक प्रतिबध्दता जैसे कई विषय मेरी रंगचेतना के धरातल बने हैं।

रंगमंच हर पल, हर क्षण आपको उर्जा दे सकता है। रंगमंच आपको अदम्य उत्साह और साहस प्रदान कर सकता है। आपकी रंगयात्रा को संस्मरणीय बना सकता है। मैं यह विश्वास अपने अनुभवों के आधार पर व्यक्त करता हूँ। इसी विश्वास से यह मेरा 'रंगविमर्श' जन्मा है। आपसे इसे साझा करने के लिए मैं अपने आपको अधीर पार रहा हूँ। आशा है मेरा यह प्रयास आपको पसंद आएगा।

'रंग विमर्श' की रचना में मेरे मित्र लेखक, रंग आलोचक डॉ. धूपनाथ प्रसादजी ने बड़ी अहम भूमिका अदा की है। इस पुस्तक की रचना तथा सज्जा के लिये आपने

अथक परिश्रम किये है। डॉ. सोनु जेसवानी जी ने गंभीरता के साथ इस पुस्तक की पांडूलिपि पढ़कर इसे प्रकाश में लाने के लिए प्रोत्साहित किया। प्रकाशन हेतु मेरे मित्र प्रो. मनोहर ने अथक प्रयास किए। मेरी सहचारिणी एवं मेरी आलोक डॉ. निशा शेंडे, जिसने मुझे पथ-पथ आलोकित किया; सर्जनशील प्रकाश चित्रकार शेखर सोनी, चित्रकार एवं आवरण सज्जाकार सी.डी. शिवणकर, अक्षर रचनाकार दिवाकर किरपान आदि मित्र, शोधार्थी नितप्रिया प्रलय, आशीष कुमार तथा 'शब्द-सृष्टि' परिवार आदि सभी के सहयोग और प्रेम के लिए उनका हार्दिक आभारी हूँ। उनके बिना 'रंगविमर्श' पुस्तक के रूप में प्रकाशित होना संभव नहीं था।

विशेष आभार मैं महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय तथा अपने प्रदर्शनकारी कला विभाग (फिल्म एवं थिएटर) से ज्ञापित करना चाहता हूँ, जहां हमेशा मुझे सकारात्मक उर्जा मिलती है। मैं इस तपस्थली को नमन करता हूँ।

- सतीश

अंतरराष्ट्रीय रंगमंच दिवस
२७ मार्च २०२०
वर्धा.

मेरी रंगयात्रा...

वर्धा जिले के पुलगांव स्थित रंगलाल केजडीवाल हायस्कूल में मैं बारहवीं तक पढ़ा। वहीं मैंने पहली बार नाटक में काम करने की कोशिश की। 'विठ्ठला' नाम का कोई एक नाटक था। उस नाटक हेतु सभी विद्यार्थियों के साथ मैंने अपना भी साक्षात्कार दिया था; पर पता नहीं क्यों मेरा चयन नहीं हो पाया था। मैं नाटक में भूमिका करना, उस प्रक्रिया में शामिल होना चाहता था। परंतु मेरी इच्छा पूरी ना हो सकी। पहली बार जीवन में मैंने वह नाटक देखा था, दर्शक के रूप में। नाटक की वह दुनिया मुझे मन ही मन भा गयी। एक अलग-सी दुनिया, जहाँ हम होकर भी हम नहीं होते और हम न होकर भी हम वहाँ होते हैं। 'परकाया प्रवेश' की दुनिया मुझे लुभाती रही। शायद रंगमंच का बीज यहीं से मेरे दिल-दिमाग में अंकुरित हुआ था। यह १९८०-८१ की घटना होगी। इसी वर्ष मैंने पुलगांव कॉटन मिल के स्नेहसम्मेलन में भी एक नाटक देखा था, जिसमें मेरे भाईसाहब गोविंद चरखा द्वारा मुख्य किरदार निभाया गया था। उनकी रिहर्सल देखने जाना मुझे अच्छा लगता था। नाटक में मैं उस समय कोई भूमिका नहीं कर सका, पर नाटक ने मेरी रूचि पर गहरा असर ज़रूर छोड़ा था। कला और नाटक के बीज अंकुरीत करवाने का श्रेय मैं अपने भ्राताद्वय गोविंद एवं गोपाल चरखा इन दोनों को देना चाहता हूँ।

नुक्कड़ से नाटक :

१९८२ में अगली पढ़ाई हेतु मैं वर्धा आया। 'दलित रंगमंच' के नुक्कड़ नाटक से अंधश्रद्धा निर्मूलन समिति के 'जागर' नुक्कड़ नाटक से जुड़ने का मौका मिला। इस तरह नुक्कड़ नाटक से मैं रंगमंच की दुनिया से जुड़ा। गो.से. वाणिज्य महाविद्यालय में सर्वप्रथम राजेंद्र शर्मा द्वारा निर्देशित 'स्वयंवर' नाटक में भूमिका अदा करने का मौका मिला। भूमिका सराही गयी। १९८४ में मैंने 'वेड्यांची इंडस्ट्री' नाटक लिखा, जिसका निर्देशन और भूमिका भी मैंने अभिनीत की। नाटक के बारे में बहुत 'समझ' तो नहीं थी पर यह दुनिया तेजी से प्रभावित करती रही। नुक्कड़ नाटक के रूप में उसकी ताकत का अंदाज़ा आया। इसी समय राजेंद्र मुंढे, अशोक चोपडे, मनोज तायडे, विकास फटिंगे

आदि मित्रों के साथ हमने एक नाट्य प्रशिक्षण शिबिर का आयोजन किया। शिबिर के कारण नाटकवालों की एक टीम भी बन गयी। इस टीम को लेकर हमने नुक्कड नाटक के प्रदर्शन गांव-गांव में करना शुरू किया। अपनी क्षमताओं को परखने का मौका मिलने लगा।

मुझे १९८५ में 'दै. लोकमत' में बतौर ट्रेनी उपसंपादक की नौकरी मिली। औरंगाबाद में नियुक्ति हुयी। वहाँ आज के सुप्रसिद्ध फिल्म निर्देशक चंद्रकांत कुलकर्णी, नाटककार प्रशांत दलवी, अभिनेत्री वर्षा उसगांवकर, प्रतिक्षा लोणकर के 'जिगिषा' ग्रुप में काम करने का मौका मिला। 'पुरूष, हमिदाबाई की कोठी' जैसे नाटकों में छोटे-छोटे 'रोल' करने का अवसर मिला। वहीं रंगमंच और गंभीरता से समझने का मौका मिला। सीखने का मौका मिला। १९८८ को नागपुर वापस आया। फिर 'दलित रंगभूमि' की यात्रा में शामिल हुआ। साथ ही एकांकी प्रतियोगिता में पहली बार सहभागी हुआ। नाटक, एकांकी पढ़ने का जुनून, नुक्कड़ नाटक, रंग आंदोलन, साथ ही पत्रकारिता सभी जुनून के मौके मिलने लगे। नाटक के कारण 'लोकमत की नौकरी से हाथ धोना पड़ा, बेरोजगारी, निराशा भी भोगनी पड़ी। पर रंगमंच हौसला बढ़ाता रहा। 'धनवटे रंगमंदिर' के गेट पर उस समय के आंदोलन वाले जमावड़े का हिस्सा बन गया। नागपुर झाँसी रानी चौक में प्रस्तुत होने वाली नुक्कड़ कविता, नुक्कड़ नाटकों का हिस्सा बन गया। इसी समय मित्र बबन बेसेकर ने जबरन 'मास्टर ऑफ फाईन आर्ट्स' के नाटक विभाग में दाखिला करा दिया। चौक से विश्वविद्यालय की यात्रा प्रारंभ हुयी। इसी बीच दलित रंगमंच के बड़े नाटकों में भूमिकाएं की। मित्र रमेश लखमापुरे हेतु एकल नाटक लिखे। मित्र, नाटककार अमर रामटेके की नाट्यलेखन की प्रक्रिया समझी।

थिएटर की समझ :

'फाईन आर्ट्स डिपार्टमेंट' में प्रो. महेश एलकुंचवार, पुरुषोत्तम दारव्हेकर, प्रो. अरुण द. वेलणकर का सानिध्य मिला। आचार्य वेलणकर की पढ़ाने के पद्धति ने काफी प्रभावित किया। किताबों की नई दुनिया मिली, पागलों जैसे पढ़ने लगा। थिएटर को अब सैद्धांतिक रूप से समझने लगा। यह समय मेरे 'नाटक समय' का था। अच्छी तरह एम.एफ.ए. पास हो गया। 'वेटिंग फॉर गोदो' नाटक ने इसी समय में खूब प्रभावित किया। एब्सर्ड थिएटर समझने का

मौका मिला। १९९१-१९९६ में लगे हाथ एब्सर्ड थिएटर में पी-एच्.डी. भी कर ली। अकादमिक प्रक्रिया के साथ में व्यावहारिक पक्ष भी मजबूत करने की ठान ली। बगैरे भूमिका, प्रतिबद्धता के सिवा रंगमंच निरर्थक लगा। सामाजिक नाटक की आवश्यकता महसूस की। वरिष्ठ नाटककार नाना ढाकुलकर से महात्मा फुले पर 'क्रांतिबा-क्रांतिबा' नाटक लिखवाया। अच्छे-बुरे अनुभव के साथ ५० प्रदर्शन भी किये। थिएटर मुवमेंट ग्रुप में रमेश लखमापुरे, राकेश खाडे, गीता बाजपेयी तथा अन्य मित्रों के साथ पचासों नाटक किये। परिचर्चा, संगोष्ठी, नाट्यपाठ, विश्व नाट्स समारोह, रंगमंच दिवस के कार्यक्रम आयोजित किए। नाट्यलेखन, निर्देशन, संगठन, प्रबंधन के सारे गुर वहीं सीखने को मिले।

नाटक का अकादमीकरण :

११९६ में अमरावती आना पड़ा। अब तक 'युद्धयात्रा' नाटक की सह कलाकार निशा शेंडे से अफेयर और फिर शादी हो चुकी थी। हमारी बेटी सिल्विया का जन्म हो चुका था। लोकमत के बाद कई वर्ष बेकरी, बेरोजगारी में काटे। १९८९ में लगी 'जनवाद' की नौकरी भरोसे की नहीं थी। निशा ने परिस्थिति को भांपकर नौकरी करने का निर्णय लिया। अमरावती के महिला कॉलेज में उसे 'लेक्चरर' की नौकरी मिल गयी थी। परिवार की जरूरत को देखकर मैंने अमरावती जाने का फैसला लिया। १९९६ में अमरावती रंगमंच का दौर प्रारंभ हुआ। 'जिगिषा' ग्रुप बनाकर नाटक की यात्रा पुनः प्रारंभ की। यहाँ भी नाटक को एक आंदोलन के रूप में स्थापित किया। 'क्रांतियोगी गाडगेबाबा', 'युगनिर्माता', 'कृष्णसावली', चक्रव्यूह जैसे नाटक किये। साल २००० से २००८ तक रिलायन्स में प्रोजेक्ट कोऑर्डीनेटर का कार्पोरेट जॉब भी किया। २००८ में औरंगाबाद के डॉ. बाबासाहब आंबेडकर मराठवाडा विश्वविद्यालय नाट्यशास्त्र विभाग में सहायक प्रोफेसर की नौकरी मिली। २०१० से वर्धा के महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के प्रदर्शनकारी कला विभाग में बतौर सहायक प्रोफेसर काम कर रहा हूँ।

औरंगाबाद में रंगकर्मी के बजाए शिक्षक अधिक बनना पड़ा, किंतु वर्धा में बतौर नाटककार, निर्देशक, अनुवादक मुझे रंगकर्म हेतु अधिक अवकाश मिला। यहाँ नत्था खड़ा बाजार में, एक बार फिर गोदो, हे राम, दर्शन, वह

गंदी गली, मृच्छकटीक, हानुश, राज से स्वराज तक, गुलाम (द स्लेव), काला सूरज, कमला, अंधेरे में, सकुबाई जैसे कई नाटक प्रस्तुत करने का मौका मिला। वर्धा के साथ अमरावती के भी रंग आंदोलन जारी रहे। 'शिवकुलभूषण राजा संभाजी', 'शिवकल्याणी माँ जिजाऊ', 'क्रांतियोगी गाडगेबाबा', 'अंधारवेणा', 'गल्ली', 'पुन्हा एकदा नव्याने', 'काळोखात' ऐसे कई नाटक अमरावती के जिगिषा तथा यूनिवर्सल ग्रुप द्वारा प्रस्तुत किये गये। कई अनुवाद रुपांतर का काम चलता रहा। समय कम और काम ज्यादा है। बहुत कुछ सीखना है, बहुत कुछ पढ़ना है। नाटक की दुनिया को जीना है। अनुभव से अनुभूति की यात्रा करनी है। जहोजहद और शिद्दत बरकरार है।

एक लम्बी अवधि के बाद :

१९८२-२०१९, ३७ साल हो गये विश्वास नहीं होता। लगता है, कल की ही तो बात है। इतने साल गुज़र गये, पता ही नहीं चला। वही जोश, जुनून आज भी बरकरार है। वही एक्साईटमेंट आज भी बना हुआ है। क्या है ऐसा रंगमंच में, नाटक में, जिसने मुझे इतने सालों से बांधे रखा है? सीधा, सरल, सटीक जबाब तो नहीं मिलता, बस इतना कह सकता हूँ 'ये अंदर की बात है' जो सबको पता है - दोस्त कहते हैं, पागल है साला! सच में रंगमंच पागलों की दुनिया है। नागपुर हो या नैनीताल, मुंबई हो या मंगलोर, पुणे हो या पटना, दिल्ली हो या देहरादून, चंद्रपुर हो या चंडीगढ़, हैद्राबाद हो या हावड़ा, सभी जगह मेरे जैसे पागल आपको मौजूद मिलेंगे।

रंग का सफर सुहाना :

रंगकर्म एक गति का नाम है, जो अंदर भी है, बाहर भी। जो आपको उस अनुभूतिमय दुनिया तक बरबस खींच ले जाती है। ३७ वर्ष की यात्रा को मैंने इस गति के साथ-साथ समेटने की कोशिश की थी, जिसे मैंने कुछ संदर्भों के साथ, सूचनाओं के साथ यहाँ प्रस्तुत किया है। इतने समय में जितने नाटक किये, वे नाटक अपनी-अपनी स्वतंत्र अनुभूति के केंद्र रहे हैं। उस नाटक का 'अवकाश' एक दूसरे को कभी पाट नहीं सका। बतौर अभिनेता हो, निर्देशक या फिर लेखक या अनुवादक, मैं हमेशा अपने पक्ष की सार्थकता को खंगालता रहा हूँ। जब मैं प्रयोगशील होता हूँ, नये-नये प्रयोग करता हूँ। जब मैं प्रतिबद्ध होता हूँ तो सामाजिक नाटकों का मंचन करता हूँ। जब मैं अध्येता, अध्यापक

होता हूँ तो छात्रों के साथ 'लेबोरेटरी थिएटर' को आज़माता हूँ। जब मैं नाटक का छात्र होता हूँ तो ऑगस्तो बोवॉल के ऑप्रेस्ड थिएटर को, युजीनो बार्बा के कम्युनिटी थिएटर को समझना चाहता हूँ। ग्रोस्तोवस्की मुझे बादल सरकार में दिखते हैं। भरत के अभिनय सिद्धांत स्तानिस्लावकी के 'मेथड' में देखता हूँ। मेयर होल्ड शरीर संचालन के मायने बताते हैं। अंतोनीन आर्तो मन में कसक पैदा करते हैं। ब्रेख्त मुझे सबसे क्रांतिकारी लगते हैं। 'रससिद्धांत' को खारिज करना और अपना 'एपिक' या एलियनेशन का 'सिक्का' जमाना आसान होता है क्या? रंगमंच की दुनिया बदलने की एक अलग कोशिश ब्रेख्त ने की है। आज भी प्रोबीर गुहा की आल्टरनेटीव थिएटर का आंदोलन, मंजुल भारद्वाज का रेलोबंस थिएटर भारतीय थिएटर को नई दिशा दे रहे हैं।

यूनानी थिएटर हो अथवा रोमन, एलिजाबेथ हो या ओरिएंटल, भरत का नाट्यशास्त्र हो या अनवरत बहती लोकनाट्य की धारा, विदर्भ का झाड़ीपट्टी थिएटर! लगता है सब 'एसेंस' मुझ में रचा बसा है। बिदेशिया-लौंडा नाच के साथ महाराष्ट्र का वगनाट्य, पुरूलीया छाऊ, माच, खयाल, यक्षगान के फार्म में होनेवाले लोकनागर प्रयोग, रतन थियाम के 'चक्रव्यूह' से लेकर मणिपुर के युवा रंगकर्मी द्वारा प्रस्तुत किये 'ऋतुसंहार' नाटक के नये परिप्रेक्ष्य तक मैं अनवरत घूमता रहता हूँ। उदय प्रकाश का 'मोहनदास', ओमप्रकाश वाल्मिकी का 'झूठन' टीस भरे अनुभव हैं। मंटो की कहानियों का नाटक झकझोर देता है। मोहन राकेश तो एक यथार्थवादी ठहराव है मेरा, एक पूर्णाभिव्यक्ति के लिए। उनका 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस', 'आधे अधूरे' मेरे प्रिय नाटक! शब्दों का यह मसीहा, सम्राट अंत में शब्दों से परे जाना चाहता है। कई सवाल हैं मेरे, पर उत्तर पाने की कोई लालसा नहीं। लगता है अनुभव, अनुभूति के सिवाय प्राप्त ज्ञान की कोई सार्थक अर्थवत्ता हो सकती है भला?

'अल्बैर कामू' मेरे एक और पसंदीदा नाटककार, कालीगुला हो, न्यायप्रिय हो, विपरती हो, एक नई सोच की दुनिया, अनुभव को अनुभूति में तब्दील कर देते हैं। आपको बेचैन करने की ताकत रखते हैं वो। एब्सर्ड नाटककारों की श्रेणी में होकर भी यूजीन आयनेस्को आपके दिलो-दिमाक पर छा जाते हैं। 'चेअर्स', 'लेसन' हो या 'रायनोसिरस' (गेंडा) समाज पर तमाचे जड़ने वाले नाटक हैं। उनके कटाक्ष भी दिल में सुराख कर देते हैं। अंतरराष्ट्रीय स्तर से

परे नाशिक के भगवान हिरे जैसे नाटककार के नाटक भी मेरी अनुभूति, अनुभव के संसार के यात्री हैं। एक बार 'गोदो' जैसा नाटक आज के समय में मुझे सबसे प्रभावित करने वाला नाटक रहा। गजानन माधव मुक्तिबोध की दीर्घ कविता 'अंधेरे में' मेरे लिए प्रयोगशाला ही सिद्ध हुयी। उनकी संज्ञाओं को पकड़ना और उसे नाट्यरूप देना एक सर्जनशील यात्रा का आनंद प्राप्त कराता और फिर कई सवालों के घेरे में घिर जाना, एक अच्छा अनुभव रहा है। 'नाटक' आखिर होता है क्या? एक अच्छा अनुभव, एक अच्छी अनुभूति, जो चेतना के साथ जोड़ दे। एक्सप्रेशन के साथ मौन कर दे। या फिर आनंद के साथ टीस भरे, बेचैनी दे दे। दिल-दिमाग की गति बढ़ाकर असीम शांति का अनुभव भी दे।

शास्त्रीयता के साथ :

नाट्यालेख पढ़ना, विषय को समझना-समझाना, अनुसुलझे तथ्यों-कथ्यों को दृश्यरूप देकर उसे निर्वचित करना, इंटरप्रिटेशन, रि-इंटर प्रिटेशन, क्रिएशन-रिक्रिएशन सारी प्रक्रिया से गुज़रकर, नई-नई संभावनाओं को खोजना, नये अर्थों को खोजना, शिल्प, बिंब, शैली, प्रतीक, प्रतिमाएं, पैटर्न, चरित्र, कॉनफ्लिक्ट संवाद, भाषा, नाट्यगत संघर्ष की इकाइयों को निर्वचित करना, खो जाना, समा जाना और फिर भी छटपटाहट बरकरार! काश! यदि! अगर! इफ... यह शब्द कभी पीछा नहीं छोड़ते। शब्दों के गहन अर्थों के साथ लड़ना-झगड़ना, प्रतीक-प्रतिमाओं के साथ जूझना, शिल्प-बिंबों के साथ झुलसना, इंटरप्रिटेशन के साथ कबड्डी खेलना और फिर 'अंधों के हाथी' जैसी अपनी छोटी-सी समझ को दुनिया के मायनों के साथ संपृक्त करते चलना। टीका -टिप्पणी पर नाराज़ होना या फिर 'फ्रिक्र को धुएँ में' उड़ा देना। झूठ, फरेब और स्वार्थ के साथ त्याग, समर्पण, कड़ा परिश्रम, लगन के साथ 'बेफिक्रे' होकर फिर नये अवकाश को खोजना, फिर एक नया राग... "दिल दिया दर्द लिया" का अनुभव, तो कभी बेगानी शादी में अब्दुल्ला दीवाना भी। एक यात्रा के कई-कई हिस्से हैं और किस्से भी!

अपने चरित्र को क्या करूँ?

अपना बायोडेटा अपडेट करूँ या अपने अनुभव-अनुभूति को सहेजूँ? अपनी व्यावहारिक मूर्खता को कटघरे में खड़ा करूँ? या अपने पागलपन को कलात्मक,

सर्जनात्मक अभिव्यक्ति से महिमामंडित करूँ? अपने आग्रह को अपने 'टैलेंट' के नाम पर थोंपू या अपने अज्ञान को अपनी कमी को विनम्रता के रंगसज्जा में छिपाऊँ? अपेक्षा, स्वप्न, स्वार्थ, इच्छा, आकांक्षाएं, डिज़ायर्स, पुरस्कार, सम्मान, प्रसिद्धि, पैसा, विदेश यात्रा... कला की दुनिया में स्थापित होने की महत्वाकांक्षा! हर कोई 'सत्यदेव दुबे' नहीं बन सकते? मेरी दुनिया इन दोनों के बीच की है। ना इधर ना उधर। पर बावजूद इसके एक सच्चाई तो हैं ही। मेरा अवकाश, मेरा स्पेस थिएटर से परे नहीं है। सुलझे-अनसुलझे सवालों के साथ। हर बार एक नई दुनिया बसाने का, नये अवकाश, नये चरित्र, नई संभावनाओं के साथ जीने के सारे आकर्षण, मोह, अपेक्षाओं से परे जाकर अनुभव, अनुभूति के गहन रंगकर्म से लिपटने का। एक नई दुनिया को स्थापित करने का, सर्जनशील संभावनाओं के साथ जूझने का, नये निर्वचन से भिड़ने का... फिर एक नया कालिदास - नई मल्लिका, जॉन-मार्था, नंद-सुंदरी, गोगो-डीडी, अपने इन परिजनों के साथ नये कल की शुरुआत करने का। सारे चरित्र आपके आस-पास होते हैं। नये चरित्र आपके मन को छू लेते हैं। कुछ चरित्र आपको दिशा देते हैं, कुछ चरित्र आपको संबल देते, आकर ढाँढस बढ़ाते हैं। कुछ चरित्र आपको अध्यात्म का पाठ देते, तो कुछ चरित्र 'व्यवहार' की सीख देते। यही चरित्रों की दुनिया यथार्थ और आभास की खाई पाट देती है।

जीवन से अलग नाटक नहीं और नाटकों में जीवन बिखरा पड़ा है। 'कैलिडियोस्कोप' की तरह या फिर 'मैजिक मिरर' की तरह आपको केवल देखना है, महसूस करना है। 'कैलिडीयोस्कोप' में सुंदर नक्काक्षी है, तो मैजिक 'मिरर' में आपकी अपनी ही आप पर भद्दी किंतु रंजक टिप्पणी है। बरबस हँसी मुंह से फूट जाए। हँसते-हँसते आपकी आँखों में आँसू आ जाएं। एक सीधा सपाट आईना भी है, जो यथार्थ को आपके समक्ष खड़ा कर देगा, जैसे आप हैं, वैसा ही दिखाएगा। 'करेक्शन' की कोई गुंजाइश नहीं, बशर्ते कि आप खुद को करेक्ट करें। बस करेक्ट ही दिखेगा जो है वही। अवसर आपके पास है बदलने का, खुद को परखने का। रंगमंच मेरा 'कैलिडियोस्कोप' है, मेरा 'मैजिक मिरर' है और मेरा सीधा, सपाट आईना भी। सारा संसार बस आपको देखना है, देखने से न आप भाग सकते हैं, ना मुँह फेर सकते हैं। अगर जीवन का अर्थ जानना है, तो यह आईना आपको जीवन का अर्थ सही मायने

में समझा देगा।

प्रेरणा के प्रमाण मेरे नाटक :

अल्बैर कामू का 'सिसिफस' मेरी आजीवन प्रेरणा रहा है। एक असंभव को संभव करने का अविरत प्रयास करते 'सिसिफस' को मैं जीवन की प्रेरणा मानता हूँ। ग्रीक रंगमंच का 'प्रोमिथियस' हो या फिर एब्सर्ड थिएटर के 'गोगो-डीडी' मुझे जीवन के पर्याय लगते हैं। इनसे अधिक जीवन कोई नहीं जान सकता, ना जी सकता है। 'आषाढ़ का एक दिन' की मल्लिका अधिक तेजस्वी है, विलोम अधिक परिपक्व है, आधे अधूरे की सावित्री आधुनिकता का पाठ पढ़ाती है। 'अंधेरे में' से मुक्तिबोध प्रकाश की ओर ले जाते हैं। धर्मवीर भारती 'अंधायुग' की चेतावनी देते हैं, भीष्म साहनी 'हानुश' की व्यथा को वैश्विक बना देते हैं। 'लहरों के राजहंस', 'अत्त दीप भव' की बात कहकर जीवन के यथार्थ को समझने की बात करता है। 'माधवी' अपने आप में विद्रोह है। जयशंकर प्रसाद की 'ध्रुवस्वामिनी' माधवी को पूर्णता देती है। 'हयवदन', 'तुगलक', 'महानिर्वाण', 'ऐसे पंछी आते हैं', 'विरासत', 'अंधेर नगरी', 'सूरज की अंतिम किरण से पहली किरण तक', 'शंबुक', 'शंबुक वध', 'सुनो शेफाली', 'महाभोज', 'बिन दीवारों का घर', 'एक और अजनबी', बस खोजते रहिये, ढूंढ़ते रहिये, खंगालते रहिये, पूरा जीवन-संसार आपको इन नाटकों में मिल जाएगा। यह नाटक मेरे मन-मस्तिष्क में घर बसाये हैं, जो सदैव जीवन को परिष्कृत करते हैं। नये नाटकों की प्रस्तुति में मदद करते हैं। उसकी आलोचना करते हैं, समीक्षा करते हैं। अपने आप में बसा है यह मेरा नाट्यसंसार। जीवन की अथाह संभावनाओं को व्यक्त करने का प्रयास करता, कभी हारता, कभी लड़ता, कभी उदास होता, तो कभी खिलखिलाकर हँसता। यही मेरा समाज, यही मेरा व्यक्तित्व और कृतित्व भी।

भगवान बुद्ध, चार्वाक, तुकाराम, कबीर, महात्मा फुले, सावित्रीबाई फुले, राजर्षी शाहू महाराज, डॉ. बाबासाहेब अंबेडकर, लोकसंत गाडगे महाराज, छत्रपती शिवाजी महाराज, संभाजी महाराज, माता जिजासाहेब, बिरसा मुंडा, झलकारीबाई, ताराराणी, मेरी प्रेरणा हैं, आराध्य रहे हैं। चरित्र प्रेरक नाटकों के ये चरित्र मेरे रहे हैं। क्रांतिकारी संभावनाओं के यह सभी केंद्र रहे हैं, ऊर्जा के स्थल रहे हैं। इन चरित्रों ने मेरे रंगकर्म को एक नया अर्थ दिया है। साथ

ही रंगकर्म की एक प्रतिबद्ध अनुभूति भी। इतिहास के नये शोध, सत्य की नई खोज और वर्ग, वर्ण, जाति संघर्ष का यथार्थ मैं इन चरित्रों के साथ अभिव्यक्त कर पाया। कलात्मक, सर्जनात्मक रंगकर्म के साथ सामाजिक रंगकर्म का भी एक नया अध्याय मेरे रंगकर्म का अभिन्न हिस्सा रहा है। शायद नुक्कड नाटक आंदोलन, दलित, बहुजन रंगमंच की अनुभव यात्रा इसकी प्रेरणा रही है। इन ३७ सालों में यह 'बैंलेंस' करने में, अपना 'बेस्ट' देने का प्रयत्न किया है। सफलता-असफलता तो एक क्षणिक अवस्था है, इससे परे जाकर अपनी भूमिका को कायम रखना, अपने प्रतिरोध को कायम रखना, अपने विद्रोह को कायम रखना आवश्यक है। शायद मैंने ये बातें कायम रखी है, इसीलिए सर्जनशीलता हो या कलात्मकता, उसकी प्रवाह हमेशा मेरी सामाजिक प्रतिबद्धता का रहा है। 'मनोरंजन से प्रबोधन और प्रबोधन से मनोरंजन' किया जा सकता है। आप समाज में चेतना पैदा कर सकते हैं, बदलाव के प्रयत्न कर सकते हैं, इतनी शक्ति रंगमंच में अवश्य है। अपने अनुभवों के आधार पर मैं यह निश्चित तौर पर कह सकता हूँ। बस इसी शक्ति का पर्याय है मेरा रंगमंच और मेरा रंगकर्म!!!

■■■

रंगबोध की शास्त्रीयता

- भरत के नाट्यशास्त्र में वर्णभेद
- नाट्यशास्त्र में भाषा-संस्कृति और समाज
- नाट्यशास्त्र में दृश्यकला और रस
- दृश्यकला एवं विन्यास में रस
- नाट्यकला और दृश्यकला का अंतर-संबंध
- पुराणों में नाट्यकला
- नाटक अभिज्ञान शाकुंतल में प्रकृति
- नाट्यशिक्षण - नाट् प्रशिक्षण का निर्माणवाद
- मोहन राकेश की 'ध्वनि नाट्यभाषा'

भरत के नाट्यशास्त्र में वर्णभेद

भरत नाट्यशास्त्र का रचना काल ईसा पूर्व २०० से ईसा २०० तक माना जाता है। इस काल की महत्वपूर्ण घटनाओं में ब्राम्हण सम्राट पुष्यमित्र शुंग द्वारा मगध सम्राट बृहद्रथ की हत्या कर ब्राम्हणी प्रतिक्रांति को अंजाम देना, पुष्यमित्र शुंग के गुरू पतंजलि द्वारा योगशास्त्र के साथ महाभाष्य में संस्कृत व्याकरण की पुनर्रचना करना तथा ब्राम्हणी धर्मशास्त्र कहे जानेवाले मनु स्मृति का रचा जाना आदि का समावेश है। इसी काल में भरत के नाट्यशास्त्र की भी रचना हुयी है। मार्क्स के अनुसार "किसी रचना का मूल्यांकन करते समय यह ध्यान रखना ज़रूरी है कि, वह रचना किस सामाजिक प्रसंग में की गयी है।" इस समय के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक और भाषिक परिदृश्य, में ब्राम्हणी प्रतिक्रांति के तहत वैदिक धर्म की, ब्राम्हण धर्म की, संस्कृत भाषा की पुनर्स्थापना की गयी। बौद्ध, जैन काल में वैदिक धर्म का पतन हुआ था। यज्ञ संस्थाएं, कर्मकांड, विधि-विधान बंद हुये थे। ब्राम्हण, पुरोहित वर्ग की रोजी-रोटी के अस्तित्व पर प्रश्नचिन्ह लग गये थे। वर्ण-व्यवस्था लगभग क्षीण हो गयी थी। ब्राम्हण वर्ग का अस्तित्व सिमट गया था। इस स्थिति को बदलने के लिए पुष्यमित्र शुंग को प्रतिक्रांतिकारी रूप में खड़ा किया गया। मुंशी एन.एल. खोब्रागडे कहते हैं - "शुंग काल में संस्कृत भाषा का विकास हुआ। मनुस्मृति की रचना की गयी। पुराण लिखे गये। ब्राम्हणधर्म को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। ब्राम्हण दर्शन, व्याकरण, काव्य, धर्मशास्त्र, इतिहास, पुराण आदि धर्म ग्रन्थों की रचना की गयी," वैसे यह दौर भारी उथल-पुथल का रहा है। किंतु शुंग वंश के शासन के अलावा किसी भी स्थानीय राजवंश ने स्थायी राज नहीं चलाया। ब्राम्हणों ने अपनी खोई हुयी सत्ता इसी काल में प्राप्त की। अपना वांशिक, वार्णिक, वैदिक तथा भाषिक श्रेष्ठत्व सिद्ध करने का भरपूर प्रयास इस काल में किया गया।

मूल प्राकृत लोक परम्परा में जन्मी तथा विकसित हुयी नाट्यविधा का ब्राम्हणीकरण कर, उसे नाट्यवेद में बदल दिया गया। सामन्ती व्यवस्था के हित में उसका रूपान्तरण कर दिया गया तथा ब्राम्हणी धर्म की स्वार्थ सिद्धि हेतु

नाट्यविधा को शास्त्र का रूप देकर उद्‌गाता के रूप में अपनी धार्मिक विचारधारा को स्थापित कर दिया गया। अर्थात् नाट्यविधा का वैदिकीकरण, ब्राम्हणीकरण कर दिया गया। मुद्राराक्षस कहते हैं - "वेदों और अन्य ब्राम्हणी सिद्धांतों को प्रतिष्ठा देने का काम पूर्वकाल में यास्क ने 'निरूक्त' द्वारा किया, वैसा ही काम नाट्यशास्त्र द्वारा करवाया गया।" नाट्यशास्त्र को 'नाट्यवेदस्य', 'चतुर्वेदांगम्' आदि संज्ञाओं द्वारा नाट्यवेद के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। जिसके माध्यम से प्राकृत लोकधर्मी नाट्यपरम्परा को मिटा दिया गया। ब्राम्हणधर्म को श्रेष्ठ धर्म के रूप में स्थापित करने हेतु कुछ नये अध्यायों की रचना कर, दैवी सिद्धांतों के साथ उसे जोड़ दिया गया। जिसमें वर्णाश्रम का सिद्धांत सबसे महत्वपूर्ण था। इस सिद्धांत के आधार पर कर्मकांडों को पुनश्च स्थापित किया गया। मनुस्मृति ने वर्ण के आधार पर नया दंडविधान रचा, जिसे धर्मशास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित, प्रचारित किया गया। पतंजलि ने व्याकरणशास्त्र पर 'महाभाष्य' की रचना कर उसके प्रयोजनों का संबंध वैदिक कर्मकांडों से जोड़ा। वेद, वर्ण और भाषा को समाज का गुलाम बनाने का माध्यम बनाया गया। वेद प्रामाण्य सिद्ध करने हेतु अन्य धर्म, पंथ, विचारधारा, संप्रदाय को तिरस्कृत ठहराया गया। मनुस्मृति कहती है -

"या वेदबाह्य स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फला प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः॥"

इस श्लोक का इशारा साफ तौर से बुद्ध धर्म, जैन धर्म, पाशुपत सम्प्रदाय, चार्वाक अथवा लोकायत पंथ की ओर है। जिसका तिरस्कार नाट्यशास्त्र में भी किया गया है। क्योंकि यह धर्म, पंथ, सम्प्रदाय, वेदनिंदक, वेदविरोधी थे। इतना ही नहीं वे वैदिक, वार्णिक और ब्राम्हणी कर्मकांडों के कट्टर विरोधी थे।

भरत का नाट्यशास्त्र वर्णाधिष्ठित है। इस नाट्यशास्त्र में वर्णित समाज, संस्कृति तथा भाषा व्यवस्था भी वर्णाधिष्ठित है। नाट्यशास्त्र के अध्याय १८ में नाट्यभाषा का विधान है, जिसमें संस्कृत को आदिभाषा, अभिभाषा, आर्यभाषा तथा देवभाषा कहा गया है तथा प्राकृत को विभाषा, अपभ्रंश या शुद्र वर्ण की भाषा कहा गया। इन प्राकृत भाषाओं में मागधी, अर्ध-मागधी, शौरसेनी, प्राच्या, अवन्तिजा, बाल्हिक और दक्षिणात्या के अलावा विभाषा के रूप में शकारी, शबरी, आभिरी, चण्डाली आदि भाषाओं का उल्लेख किया गया है। इन

भाषाओं को नाट्यशास्त्र 'जातिभाषा' भी कहता है। स्त्री तथा शूद्र वर्ण के चरित्र संस्कृत नहीं बोल सकते। वर्णाश्रम पद्धति के अनुसार शूद्र सबसे निम्नवर्गीय होने के कारण उन्हें यह अधिकार नहीं दिया गया था। केवल ब्राम्हण, राजा तथा उच्च वर्ण, वर्ग के लोग ही संस्कृत का प्रयोग नाटक में कर सकते हैं। इसलिए डॉ. विश्वम्भर नाथ उपाध्याय कहते हैं, "भाषा के संबंध में भी नाट्यशास्त्र वर्णवादी, जातिवादी है।" नाट्यउत्पत्ति की कथा में नाट्यशास्त्र रचना सर्ववर्णिकों के लिए की गयी, ऐसा कहा गया है। चारों वेदों का अध्ययन निषिद्ध होने के कारण ब्राम्हणों ने यह अन्य वर्णों के साथ शूद्रों के लिए भी यह पाँचवा वेद रचा, ऐसा कहा गया है। ऊपरी तौर पर यह विधान शूद्रों के प्रति उदारता का दृष्टिकोण दर्शाता है। किंतु नाट्यशास्त्र के कई अध्यायों में शूद्रों के प्रति किया जाने वाला भेदभाव स्पष्ट दिखाई देता है। नाट्यशास्त्र के १, २, ३, ५, १८, १९, २३, २४, २९, ३२, ३३, ३७ अध्यायों में नाट्यशास्त्र का वर्णवादी, जातिवादी नज़रिया दृष्टिगोचर होता है, जो वैदिक, आर्य, ब्राम्हणी समाज की संस्कृति की पहचान रही है।

इस आलेख में मैं मर्यादावश केवल अध्याय २, ३, ५ का परिशीलन करना चाहता हूँ। अध्याय २ में 'प्रेक्षागृह लक्षण' की चर्चा है। अध्याय ३ में 'रंगदेवता पूजन' तथा अध्याय ५ में 'पूर्वरंग विधान' पर प्रकाश डाला गया है। इन सभी अध्यायों में ब्राम्हण वर्ग की अनियंत्रित धार्मिक सत्ता का रूप तथा कर्मकांडों द्वारा अर्थप्राप्ति का और ब्राम्हणी धर्म के अंतरंग का दृष्टांत मिलता है। इन सभी अध्यायों में वर्णित विधि आदेशात्मक है। प्रेक्षागृह की भूमि-मापन विधि में पूजन की अनिवार्यता बताई गयी है। नाट्यशास्त्र कहता है -

"ब्राम्हणांस्तर्पयित्वा तु पुण्याहं वाचतेत्ततः
शान्तितोयं ततो दत्वा ततः सूत्र प्रसारयेत॥"

ब्राम्हणों द्वारा पुण्याह वाचन कराया जाए। भूमि-मापन सूत्र योग्य नहीं बनाया गया तो नुकसान होगा। मृत्यु तक हो सकती है। इसलिए रंगपूजन विधि बिना विघ्न संपन्न होनी चाहिए। प्रेक्षागृह की आधारशिला रखते समय कुछ विधि-निषेध भी बताए गये हैं। नाट्यशास्त्र में आगे कहा गया है -

"उत्सार्याणि त्वनिष्ठानि पाषण्डया श्रमिणस्तथा
काषायवसनाश्चैव विकलाश्चैव ये नयाः॥" (कारिका क्र. ४)

इस विधि के समय पाषण्ड (पाशुपत संप्रदाय) जैन श्रमणक, बौद्ध तथा शारीरिक विकलांग व्यक्ति वहाँ नहीं आने चाहिए। आये तो उन्हें तत्काल हटा देना चाहिए। स्तंभ स्थापना में 'चदनन्तु भवेत ब्राम्हणम्', अर्थात ब्राम्हणों का स्तंभ केवल चंदन का हो, क्षत्रियों का खैर का, वैश्यों का धावड का तथा शूद्र स्तंभ अन्य किसी भी वृक्ष का हो। गृह स्थापना में ब्राम्हणों को मक्खन, घी, खीर का भोग, राजा को मधुपर्क तथा नाट्यमंडली के सदस्यों को गुड़ का भोग लगाया जाए। ब्राम्हण स्तंभ श्वेत वर्ण का, शुद्रों का नीले रंग का हो। ब्राम्हण स्तंभ का भरण करते समय उसमें पर्याप्त रूप में सोना डाला जाए, जो अंत में पुरोहित के हिस्से में जाता है। प्रेक्षागृह विधान अध्याय में आगे लिखा गया है-

"रत्नदानै सगोदानै वस्त्रदानै रत्नल्पेके।

ब्राम्हणांस्तर्पयित्वा तु स्तम्भानुत्थापयेत्ततः॥" (कारिका क्र. ६१)

ब्राम्हणों को रंगपूजन में रत्नदान, गोदान, वस्त्रदान कर उन्हें अतिशय संतुष्ट किया जाए।

"यज्ञेन सम्मितं हयेतद्र रंग दैवतपूजनम्

अपूजायित्वा रगन्तु नैव प्रेक्षां प्रयोजतेय॥" (कारिका क्र. ९८)

रंगपूजक वैदिक यज्ञ पूजा के समान होता है, इसीलिए वह अनिवार्य है अन्यथा अपशकुन होता है। साथ में शकुन अपशकुन की लंबी सूची भी दी गयी है। अन्य कारिकाओं में यज्ञविधि न करनेवाले पतीत होंगे। पाप योनि में जन्म लेंगे। मृत्यु उपरान्त नर्क में जाएंगे। किंतु यज्ञ विधि सफलतापूर्वक संपन्न किया गया तो, यजमान को स्वर्ग प्राप्त होगा, यह विधान किया गया है। नांदी में यत्र-तत्र सर्वत्र ब्राम्हण कल्याण की कारिकाएं विद्यमान हैं -

"नमोस्तु सर्व देवेभ्यां द्विजातिभ्य शुभ तथा।

जित सोमेन वै राजा शिवं गो ब्राम्हणाय चं॥" (कारिका क्र. १०६)

अर्थात् देवता, ब्राम्हण, सोमरूपी राजा, गौ-ब्राम्हणों का शुभ हो, कल्याण हो। इसके अलावा

"शान्तिर्गो ब्राम्हणांना नरपतिस्वामि॥" (कारिका क्र. ८३)

गौ-ब्राम्हणों को संतुष्ट करना आवश्यक है। क्योंकि वह भूदेव हैं। नरपति समान है।

"ब्रम्होत्तर तथैवास्तु हता ब्रम्हाद्विषस्तथ॥" (कारिका क्र. ७०)

अर्थात् ब्राम्हणों का शुभ हो। गौ ब्राम्हणों का सदा कल्याण हो। ब्राम्हणों की निरन्तर उन्नति हो और ब्राम्हणों का द्वेष करनेवालों का नाश हो।

"कुर्यादनन्तरं चारीदेव ब्राम्हण शंस्तुतिम॥" (कारिका क्र. १००)

रंगपूजन, रंगविधि संपन्न होने के पश्चात् देवों के साथ ब्राम्हणों की, स्तुतिपाठ युक्त चारी प्रदर्शित करें। इन चारियों में ब्राम्हणों को प्रत्यक्ष ब्रम्हा कहा गया है।

"नमो ब्राम्हणे। नमस्ते जयो
त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रम्हासि"

स्तुतिपाठ में ब्राम्हणों को प्रथम नमस्कार कर, उनके ब्रम्हा रूप की, ब्रम्हा वचन की स्तुति की जाती है। ऐसी कई कारिकाएं नाट्यशास्त्र में विद्यमान हैं, जो ब्राम्हणों को गौरवान्वित करती हैं। इन सभी कारिकाओं में कर्मकांड, पूजा, विधि की अनिवार्यता, उपयुक्तता विशद कर ब्राम्हणों को भूदेव के रूप में निरूपित किया गया है। नक्षत्र, योग, जपजाप्य, सामंत्रक अभिषेक, आचमन, तिथि, मुहूर्त, शुभकारक विधि, दान-दक्षिणा, सुग्रास भोजन, गंध, माला, धूप, दीप, नवैद्य, मंत्रोपचार, प्रार्थना, मंत्राहुति, होम-हवन, समिधा, शुभ-अशुभ चिन्ह, शुभ-अशुभ स्थिति, शकुन-अपशकुन आदि की रंगपूजन विधि में भरमार है, जो स्पष्ट रूप से ब्राम्हणी कर्मकांड के परिचायक हैं। उसके माध्यम से केवल ब्राम्हण वर्ग को सम्मानित करने की, उन्हें आर्थिक रूप से लाभान्वित करने की, उनके वर्ण श्रेष्ठत्व को कायम रखने की तथा ब्राम्हण वर्ग को गौरवान्वित करने की कोशिशें दिखाई देती हैं।

मूलतः नाट्यकला कभी भी ब्राम्हण वर्ग अथवा क्षत्रिय, वैश्य वर्णों की कला नहीं रही। नाट्यकला कर्म शूद्रों का ही कर्म माना गया है। भरत नाट्यशास्त्र ने जिस 'भरत वंश' का वर्णन किया है वे सभी नट, नटी, सूत्रधार, स्थापक, गायक, वादक, नर्तक, शोभनिक, मालाकार, आभूषणकार, शैलुष, कुशिलव आदि सभी शुद्र वर्ण से हैं। नाट्य प्रस्तुति उनकी आजीविका का साधन है। वे शिल्पी हैं, श्रमजीवी हैं किंतु रंगपूजन विधि हो अथवा पूर्वरंग विधान हो अथवा प्रेक्षागृह को बांधने की प्रक्रिया हो, उन्हें उपेक्षित, त्याज्य रखा गया। उनके साथ अछूतों जैसा व्यवहार किया गया। जिनकी बदौलत नाट्यकर्म है, उन्हें केवल गुड़, नमक की खिचड़ी देने का विधि-विधान है। प्रत्यक्ष पूजन में उनकी कोई सहभागिता नहीं रखी गयी और जिनकी नाटककर्मी के रूप में कोई भी

भूमिका नहीं, उन ब्राम्हण-पुरोहितों के लिए मक्खन, घी, खीर, मधुपर्क के साथ सुवर्ण, रत्न, वस्त्र, गोदान की योजना की गयी है। यहाँ नाट्यशास्त्र में वर्णित वर्णभेद, जातिभेद स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

नाटक को शास्त्र बनाकर उसे पक्षपाती बना दिया गया है। वेदों के संदर्भ में असुरों के साथ, दानवों के साथ किया गया पक्षपात, हमें प्रथम अध्याय के नाट्यावतरण की कथा से परिलक्षित होता है। देवासुर संघर्ष, समुद्र मंथन की नाट्यकथाओं में हम यह देख सकते हैं। इसके अलावा स्तंभ स्थापना विधि, आसन व्यवस्था, भाषाविधान, पात्र रचना, नायक-नायिका भेद, नाट्यभेद, सामान्य अभिनय, वृत्ति-प्रवृत्ति, आतोद्य विधान, धृवाध्याय, अवनद अथवा कुतूप वाद्य प्रकरण, संबोधन पद्धति, शाप प्रकरण आदि में हम वर्णभेद, वर्गभेद, जातिभेद, रंगभेद, भाषाभेद को स्पष्ट रूप से देख सकते हैं, जो 'सर्ववाणिकम पंचमवेद' की उदारतावादी परिकल्पना को खारिज करता है। शूद्रों को दिए गये पदसंचार, अंगसंचार में अछूतों जैसे क्रियाकलाप, नामों में दिए गये दास सूचक लक्षण, वस्त्रविन्यास में काले रंग की तथा वर्ण में की गयी कृष्ण रंग की योजना, संबोधन पद्धति में दिये गये हेय नाम वाचक, आज्ञावाचक सम्बोधन, भाषाविधान में स्त्री तथा शूद्रों के लिए संस्कृत भाषा का निषेध तथा प्राकृत भाषा को प्रदान की गयी निम्नता, भरतपुत्रों को शुद्र बनानेवाले शाप, स्त्री को शूद्र मानकर उसे दिया गया भोग्या, अभिसारिका का दर्जा, समस्त स्त्री जाति की गुलामी का दर्शन है। जयकुमार जलज के अनुसार "नायिका भेद में नायिकाओं का वर्णन आयु और नायक से रति संबंधों को लेकर किया गया है। स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व की कोई कल्पना नाट्यशास्त्र में नहीं है।" इस प्रकार कामशास्त्र पर आधारित श्रृंगार रस से बाहर निकलने की कोई भी गति नायिकाओं को नाट्यशास्त्र में नहीं दी गयी। मूलतः स्त्री भी शुद्र वर्ण में शामिल होने कारण पैतृक सत्ता, पुरुषप्रधान सत्ता के अनुसार, सामंती व्यवस्था के अनुरूप वह भोग्या, अभिसारिका, रमणी, कामासक्त आदि रूपों में नाट्यशास्त्र उसे चित्रित करता है। इसके अलावा प्राकृत परम्परा से संबंधित नाट्यरूपक को दिया गया 'उपरूपक' का निम्न दर्जा, समय-समय पर धर्मशास्त्र, स्मृति, पुराण, ब्राम्हणों में नटवर्ग, शिल्पी, भरतों की गई निर्भर्त्सना, अनार्य प्रदेशों से, जनजाति से व्यक्त की गई घृणा, नाट्यशास्त्र में वर्णित मिथकों में असुर, दानव अनार्यों का भीषण अवमान, ब्राम्हणों को प्रदान किए गये अमर्याद अधिकार, नाट्यशास्त्र को दी

गई वेद, अध्यात्म की उपमा, समय-समय पर दी गई सामाजिक स्तर (वर्णभेद) की हिदायतें, वर्णानुसार प्रेक्षागृह की योजना, आसन व्यवस्था, शाप प्रकरण से शूद्र भरतवंश का जन्म, उन्हें देश निकाले जाने का मुनि-ऋषियों द्वारा दिया गया दंड। तात्पर्य नाट्यशास्त्र की अवधारणा वर्णाधिष्ठित है। यही इस विवेचन से सिद्ध होता है।

विश्वम्भरनाथ उपाध्याय कहते हैं - "भरत नाट्यशास्त्र के अनुसार कला का प्रयोजन हिन्दू धर्मशास्त्र के दृष्टिकोण का प्रचार है। क्योंकि देवों का विजय और दानव-असुरों का पराजय ही जनकल्याण का मूल है। यह नाट्यशास्त्र हिन्दू धर्मशास्त्रों द्वारा प्रतिवादित नीतिबोध प्रचारित करता है।" यह नीतिबोध चातुर्वर्ण को दैवी सिद्धांत के रूप में रखता है। शोषण, गुलामी, प्रताड़ना, तिरस्करण के अधिकार उच्च वर्ण को प्रदान करता है। कला, मनोरंजन के क्षेत्र को भी धर्मवाद, वर्णवाद, वंशवाद के ताने-बाने से बुनता है। कर्मकांड के माध्यम से उन पर अपना अधिकार जताता है। अपने मिथक, दैवत, संकेतों को धर्मशास्त्रों द्वारा प्रतिपादित नीतिबोध प्रचारित करता है। नाट्यशास्त्र में रसों को भी दैवतीकरण से, पुराणों से जोड़कर भाववादी साहित्य का रूप प्रदान किया गया है। आगे विश्वम्भरनाथ उपाध्याय कहते हैं - "हिन्दु धर्मवाद, नीतिवाद, मर्यादाओं के ताना-बाने से भरत-रसशास्त्र का निर्माण किया गया है।" साथ ही शूद्र पात्रों को केवल शोक, भय, हास्य इन भावों तक मर्यादित कर दिया गया है। श्रृंगार, वीर, अद्‌भुत आदि रस-भाव से वंचित रखा गया है। क्योंकि यह रस, भाव, विष्णु, ब्रम्हा, इंद्र आदि देवताओं से संबंधित दर्शाए गये हैं। पुराणों के आधार पर नाट्यशास्त्र को जगह-जगह पर वर्णवाद का चोगा पहनाने की कोशिशें की गयी हैं। इस परिप्रेक्ष्य में डॉ. ब्रजवल्लभ मिश्र अपनी टिप्पणी में कहते हैं, "अध्यात्म दर्शन, पूजाविधि, कर्मकांड के लिए प्रथम पाँच तथा अंतिम दो अध्याय नाट्यशास्त्र से जोड़े गये। इन अध्यायों की भाषाशैली, विषय वस्तु का ढंग पूरी तरह पुराण कथाओं की भाँति है।" यहाँ डॉ. ब्रजवल्लभ मिश्र नाट्यशास्त्र के संदर्भ में किये गये सुनियोजित ब्राम्हणीकरण, वैदिकीकरण की ओर इशारा करते हैं, जो वर्णाश्रम की आवश्यकता को प्रतिपादित करता है।

भाषा लक्षण, काव्य लक्षण के संदर्भ में भी आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, जी.टी. देशपांडे आदि विद्वानों ने निरूक्त (वैदिक भाष्य), महाभाष्य (संस्कृत

व्याकरण) में नाट्यशास्त्र के भाषा शैली की समानताएं खोजी हैं। जी.टी. देशपांडे कहते है - "निरूक्त मीमांसा में वर्णित काव्यलक्षणों का पुरस्कार नाट्यशास्त्र ने किया है।" अनुष्टूप, विष्टूप यह वैदिक छंद हैं, वृत्त हैं, जिसका नाट्यशास्त्र की रचना में प्रचूर मात्रा में प्रयोग किया गया है। नाट्यशास्त्र में वर्णित वैदिकवाद, ब्राम्हणवाद, वर्णवाद को देखकर नारायण भवानराव पावगी ने उसे "हिंदुओं का नाट्यशास्त्र, आर्यों का नाट्यशास्त्र" कहा है। क्या मूल नाट्यशास्त्र सही अर्थो में, हिंदू, वैदिकों या ब्राम्हणों का है? यह प्रश्न और वर्तमान नाट्यशास्त्र में प्राप्त विसंगतियाँ, प्रक्षेप, नाट्य की पूर्व उपस्थिति, शूद्र, श्रमजीवी वर्ग का नाट्यकर्म, ब्राम्हण धर्मशास्त्रों द्वारा किया गया नाट्यकर्म का निषेध, जोड़े गये मिथक और वर्णव्यवस्था के मायने में रोपे गये कर्मकांड, नाट्यशास्त्र के ब्राम्हणी रूपान्तरण की दिशा को स्पष्ट करते हैं। मूलतः नाट्यकर्म प्राकृत लोकधर्मी नाट्य परम्परा में जन्मी, विकसित हुयी नाट्यविधा है, जिसकी प्रभाव क्षमता, सर्व व्यापकत्व, लोकप्रियता देखकर ब्राम्हणी प्रतिक्रांति काल में उसका नियोजनपूर्वक ब्राम्हणीकरण, वैदिकीकरण किया गया। डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर कहते हैं, "सुत लोगों की लोककथा, लोकवार्ता पठण की प्राचीन परम्परा ब्राम्हणों ने हथिया ली और उसे पुराणकथा में बदल दिया।" उसी प्रकार प्राकृत लोकपरम्परा के नाट्यविधा को हथिया कर ब्राम्हणों ने उसे वैदिक, ब्राम्हणी नाट्यशास्त्र में परिवर्तित कर दिया। जगदीशचन्द्र माथुर भी अपने 'परम्पराशील नाटक' पुस्तक में कहते हैं, "उन्होंने रंगमंच का बहिष्कार न कर स्वयं हस्तगत करने की चेष्टा की और एक नयी परम्परा स्थापित की।" तात्पर्य वर्णवाद को बढ़ावा देने हेतु ब्राम्हणी धर्म के विकास हेतु यह एक अर्थान्तरण, व्याख्यान्तरण, रूपांतरण तथा कलमीकरण का प्रयास था, जो हम भरत नाट्यशास्त्र के रूप में देख सकते हैं। भरत का नाट्यशास्त्र वर्णाधिष्ठित है। इसीलिए भरतकालीन भाषा, संस्कृति तथा समाज भी वर्णाधिष्ठित है किंतु यह वर्णव्यवस्था मूल लोकधर्मी प्राकृत परम्परा पर थोपी गयी है, लादी गयी है, क्योंकि इस नाट्यशास्त्र का वैदिकीकरण, ब्राम्हणीकरण किया गया; जो ब्राम्हण वर्ग की सोची समझी सामाजिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, भाषिक और धार्मिक साज़िश थी।

■■■

नाट्यशास्त्र में भाषा-संस्कृति और समाज

भरत का नाट्यशास्त्र कला, साहित्य, समाज, संस्कृति, भाषा, भूगोल, इतिहास का ज्ञानकोष है। अधिकतम विद्वानों ने इसका रचना काल ईसा पूर्व २०० से ईसा २०० तक माना है। जिसे हम उत्तर वैदिक काल की रचना कह सकते हैं। इस काल में महाभारत की रचना, पुष्यमित्र शुंग के नेतृत्व में योगसूत्र, महाभाष्य की रचना, अश्वमेध यज्ञ परम्परा का पुनरूज्जीवन, कामसूत्र की रचना, भगवत गीता की रचना, मनु स्मृति की रचना, सातवाहन शासन की स्थापना, कुषाण वंश की स्थापना आदि महत्वपूर्ण घटनाएं घटित हुयी हैं। ईसा पूर्व दूसरी सदी का प्रारंभ एक अत्यंत महत्व पूर्ण घटना से होता है, इस घटना ने हिंदुस्थान का इतिहास ही बदल दिया।

ईसा पूर्व ५२७ से ईसा पूर्व १८४ तक का काल बुद्ध, महावीर और अशोक का काल रहा। इस काल में वैदिक धर्म की तुलना में बौद्ध और जैन धर्म काफी लोकप्रिय रहे। विज्ञान तथा अनात्मवाद के आधार पर इन धर्मों ने समाज को वैदिक धर्मों की जंजीरों से मुक्ति दिलायी। संस्कृत देव भाषा, आर्य भाषा के पर्याय के रूप में प्राकृत-पाली भाषा लोक भाषा बनी। इसी समय मगधपति बृहद्रथ की हत्या उस के सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने कर, ई.पू. १८४ में शुंग राजवंश की नींव डाली। यह केवल एक राजनीतिक सत्ता परिवर्तन मात्र नहीं था बल्कि सैकड़ों वर्षों बाद की गयी ब्राम्हणी प्रतिक्रांति थी। इसी काल में ब्राम्हणी पुनर्जागरण, पुनरूत्थान की योजनाओं को नियोजनबद्ध पद्धति से कार्यान्वित किया गया। वैदिक धर्म, परम्परा, संस्कृति, वर्णाश्रम, के साथ देव भाषा संस्कृत को प्रतिष्ठित करने का कार्य किया गया। अश्वमेध यज्ञ जैसी वैदिक परम्परा के पुनरूज्जीवन के साथ संस्कृत को राजभाषा का दर्जा प्रदान किया गया। संस्कृत भाषा को श्रेष्ठतम ओहदे तक पहुंचाना ब्राम्हणी प्रतिक्रांति का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य था। "संस्कृत के प्रचार-प्रसार और अध्ययन को बढ़ावा देने में पुष्यमित्र शुंग का ऐतिहासिक योगदान रहा है।" इसी संस्कृत भाषा में लोकपरम्परा से उद्‌भूत तथा विकसित लोकधर्मी नाट्य परम्परा की पुनर्रचना कर, पुनर्लेखन कर, पुनर्सम्पादित कर, रूपान्तरित कर, प्राकृत भाषा

से अनुवादित कर नाट्यधर्मी परम्परा में नाट्यकला को नाट्यशास्त्र में परिवर्तित कर दिया। इतना ही नहीं उसका वैदिकीकरण, ब्राम्हणीकरण कर दिया गया। आज का नाट्यशास्त्र इसी प्रक्रिया की देन है। जिसे अंतिम रूप देने की प्रक्रिया में मनुस्मृति, कामशास्त्र, योगशास्त्र, महाभाष्य जैसे ग्रंथ, वेद, उपनिषद, पुराण आदि ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। कुल मिलाकर वैदिक संस्कृति को प्रतिष्ठा दिलवाना, समाज मान्यता दिलवाना, उसके आधार पर वर्णाधिष्ठित धर्म प्रणाली को, ब्राम्हणी श्रेष्ठत्व को स्थापित करना इस प्रतिक्रांति का लक्ष्य रहा।

"संस्कृति भाषा की तथा भाषा संस्कृति की महत्वपूर्ण इकाई होती है।" इसी प्रकार वैदिक संस्कृति संस्कृत भाषा की तथा संस्कृत भाषा वैदिक संस्कृति की महत्वपूर्ण इकाई रही। तत्कालीन समाज को पुनश्च वर्णाश्रम की जंजीरों से बांध दिया गया। परिणामतः समाज, संस्कृति, भाषा का संचालन वर्णाश्रम के अनुसार होने लगा, जिसका प्रतिबिम्ब हमें भरत के नाट्यशास्त्र में स्पष्ट दिखाई देता है। नाट्यशास्त्र की पुर्नरचना संस्कृत भाषा में कर उसे देव भाषा, अति भाषा, आर्य भाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया गया तथा प्राकृत भाषा को निम्न भाषा ही करार दिया गया। उसे संस्कारहीन, अवगुण युक्त भाषा कहा गया। नाट्यशास्त्र के भाषा विधान अध्याय में संस्कृत भाषा को संस्कारित, गुणसंपन्न देवभाषा कहा है।

"अतिभाषा तु देवानामार्यभाषा तु भूभुजाम्
संस्कारगुणसंयुक्तां सप्तदीप प्रतिष्ठितां॥"

संस्कृत भाषा को इस प्रकार दैवी सिद्धांत के आधार पर भेद नीति का हथियार बनाया गया। जो सामाजिक-सांस्कृतिक तथा धार्मिक शोषण का माध्यम बना। भाषाविद पॉल फ्रेडरिक कहते हैं, "जब कोई ताकतवर वर्ग रक्त, वर्ण, वंश, जाति, धर्म, पंथ, संप्रदाय, कुलचिन्ह, शुद्धता और नैषेध्य के आधार पर निम्न वर्ग पर राज करता है, तब भाषा एक हथियार बन जाती है। जिसके माध्यम से ताकतवर वर्ग निम्न जाति के मस्तिष्क को भी प्रभावित करता है।" संस्कृत भाषा की श्रेष्ठता के पीछे यही अवधारणा काम करती दिखाई देती है। भाषा की यह राजनीति भी ब्राम्हणी प्रतिक्रांति का ही प्रतिफल था। नाट्यशास्त्र के भाषा विधान में संस्कृत तथा प्राकृत इन भाषाओं के दो वर्ग स्पष्ट दिखाई देते हैं। संस्कृत भाषा बोलने का अधिकर केवल उच्च वर्ण तथा वर्ग के

लोगों के पास सुरक्षित था, जो प्राकृत भाषा को निम्न भाषा के रूप में देखता था। प्राकृत, विभाषा, जातिभाषा, अपभ्रंश के नाम से जानेवाली इन भाषाओं को अनार्य भाषा, शूद्रों की भाषा कहा गया, जो अशुद्ध, संस्कारहीन, अवगुणयुक्त भाषा जो, महावीर, बुद्ध, अशोक, बृहद्रथ के समय प्राकृत लोकभाषा थी; अवर्ण, अवैदिकों की, वेद विरोधक, वेदनिंदकों की भाषा थी। यहाँ तत्कालीन भाषिक संघर्ष का आधार भी वैदिक धर्म, संस्कृति, परम्पराएं और वर्णव्यवस्था ही रहा है। लोक भाषा तथा देव भाषा का संघर्ष भाषा विधान में हम देख सकते हैं।

नाट्यशास्त्र के भाषा विधान में प्राकृत भाषा के अंतर्गत मागधी, अर्धमागधी, प्राच्या, शौरसेनी, अवन्तिजा, बाल्हिक, तथा दक्षिणात्या इन सात भाषाओं के अलावा शकारी, आभिरी, शबरी, चण्डाली, द्रमिली, वनचरी आदि विभाषाओं का उल्लेख मिलता है। ये सारी भाषाएं निम्न वर्ग के जाति के शूद्र, अनार्य वर्ग के चरित्रों के लिए निर्देशित की गयी हैं। इसे जातिभाषा भी कहा गया। संस्कृत और प्राकृत भाषा का विभाजन स्पष्ट रूप से हमारी वर्णाधिष्ठित समाजव्यवस्था तथा संस्कृति का परिचय करवाता है। तात्पर्य "भाषा के संदर्भ में हमारा नाट्यशास्त्र वर्णवादी है।" जो भाषिक श्रेष्ठता, अहं भाव, परा अहंभाव आदि संकेतों से जुड़ा है।

प्रसिद्ध भाषाविद सस्यूर के अनुसार 'भाषा शब्दों का नहीं संकेतों का तंत्र होता है'। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि संस्कृत भाषा केवल शब्दों से नहीं बल्कि श्रेष्ठता के संकेतों से बनी है। इसीलिए देव भाषा, आर्य भाषा, कही जाने वाली भाषा संस्कृत की धारणा ही अहंमूलक थी। इस अहं को जाक लका मिथ्या निर्मिति मानता है। जो परा अहं *(Super Ego)* को जन्म देती है। संस्कृत भाषा की श्रेष्ठता का भाव इस परा अहं की ही देन है। यह परा अहं हमेशा अपने आपको स्थायीरूपी श्रेष्ठत्व के रूप में देखना और रखना चाहता है। फिर उसके लिए भेद के नये नये तंत्रों को उपयोग में लाता है। नीत्शे कहते हैं, "यह लोग पहले निश्चित करते हैं, उन्हें क्या चाहिए और फिर वे तथ्यों को अपने लक्ष्य के अनुरूप ढाल लेते हैं।" नाट्यशास्त्र की रचना के साथ भी यही हुआ। इस अहं, पराअहं की भावनाओं के आधार पर ही तत्कालीन प्राकृत, नाट्य परम्परा को, संस्कृत नाट्य परम्परा में ढाल दिया गया, जिसके लिए

सांस्कृतिक तथा भाषिक स्वमान्यतावाद *(Cultural and lingual Hegemony)* के तत्व प्रयोग में लाये गये।

अंतोनिया ग्रामची के 'कल्चरल हेगेमोनी' के सिद्धांत को मराठी भाषा के आलोचक अरविंद वामन कुलकर्णी ने भारतीय परिप्रेक्ष्य में परिभाषित किया है। ''चालाक प्रस्थापित वर्ग के लोग अपनी प्रभूता को स्थायी बनाने के लिए दंड के बजाए स्वमान्यता प्राप्त करते हैं। उसके लिए वे वांछित दर्शन की चौखट खड़ी करते है।'' भारत में वेद, ईश्वर, धर्म, अध्यात्म, पाप, नर्क, पूर्वजन्म, कर्मकांड, परम्परा की चौखट, अध्ययन, अध्यापन कुशल ब्राम्हणों ने खड़ी की वर्ण, वंश, जाति तथा भाषा भेद पर आधारित समाज व्यवस्था की रचना की जिसमें शूद्र, अवर्ण, अनार्य, अवैदिकों को शूद्र बनाकर, शूद्रातिशूद्र बनाकर शोषण प्रणाली का प्रारंभ किया गया। इन सभी को नाट्यशास्त्र में संस्कृत भाषा बोलने की मनाही कर दी। बोलने पर अधर्म होता है। ईश्वर रूठ जाते हैं। पाप योनि में जन्म होता है। मरणोपरांत नर्क में जाना पड़ता है। अथवा कानों में खौलता सीसा डाले जाने के अथवा जिव्हा काट डालने के भय से संस्कृत को देवभाषा को, आर्यभाषा को सर्वश्रेष्ठ मानने की स्वमान्यता समाज देता रहा। उसके लिए ब्राम्हण वर्ग ने सांस्कृतिक तथा भाषिक *(Cultural and Lingual Hegemony)* स्वमान्यतावाद के तंत्र को स्वीकार किया। सस्यूर ने इसे भाषा की राजनीति *(Politics of Language)* कहा है। जो हमें भरत के नाट्यशास्त्र में भाषाभेद के रूप में स्पष्ट दिखाई देती है।

शुंग काल में यह राजनीति अधिक प्रभावी रूप में कार्यान्वित की गयी। अपने स्वार्थ हेतु, अपना वर्ण और वांशिक श्रेष्ठता हेतु नाट्यशास्त्र का ब्राम्हणीकरण किया गया। डॉ. आर. पी. हर्ष कहते हैं - *"They have only manipulated the History to suit their sinister designs"* अवैदिक, विज्ञानवादी, विवेकवादी, अनात्मवादी, समतावादी संस्कृति का, जनभाषा, लोकभाषा का खात्मा कर दैववादी, आत्मवादी, अध्यात्मवादी, कर्मकांडवादी, वर्णवादी संस्कृति की स्थापना की गयी। प्राकृत भाषाओं को हीन, तुच्छ ठहराकर उसे अनार्य, शूद्रों की अवगुण संपन्न, संस्कार विहीन भाषा बना दिया गया। डॉ. आर. पी. हर्ष आगे कहते हैं - *"They try to destroyed cultural and religious Identity of Budhizam and attempted to receive the cast system with Social*

supremacy of the Brahimins." यह सारे प्रयास शुंग काल में किये गये, जो नाट्यशास्त्र का भी पुर्नरचना पुनर्लेखन, पुनर्सम्पादन, रूपांतरण, अनुवाद का काल माना जाता है तथा जिसमें ब्राम्हणी सर्वश्रेष्ठतावाद के सारे तत्व-यत्र-तत्र-सर्वत्र दिखाई देते हैं। द्विज पूजन, ब्राम्हण स्तुतिपाठ, ब्राम्हण भोजन, दान-दक्षिणा से पूर्वरंग, रंगपूजन, के अध्याय भरे पड़े दिखाई देते हैं। भाषा विधान में वर्णित भेदभाव के अलावा, रस, गोत्र भी ब्राम्हण परम्परा से निर्वाचित किए गये हैं। संबोधन पद्धति में भी ब्राम्हण श्रेष्ठत्व की योजना है। नाट्यरूपकों की योजना, नायक नायिका भेद, सामान्य अभिनय, धृवागायन, अवनद वाद्य निर्माण एवं वादन योजना में वर्णव्यवस्था स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होती है।

यह शुंग काल का नवब्राम्हणवाद था, जिसे हम आज का हिंदुत्ववाद कह सकते हैं। इस में चित्रित स्त्री भी मनुस्मृति के मॉडेल के अनुसार है। नायिका भेद में वह केवल भोग्या, अभिसारिका, रमणी है, आदर्श गृहपत्नी है, गृहदासी है। आदर्श सेविका है। नायिका के अलावा दर्शक अथवा प्रश्निक के रूप में उसका कहीं भी विचार नहीं किया गया है। स्त्री को शूद्र माना गया है, जो मनुवादी, सामन्तवादी, पैतृक-पुरूष प्रधान समाज व्यवस्था का ही परिचायक है। नायिका विधान के आधार पर यह बात अधिक सुस्पष्ट होती है। ब्राम्हणी प्रतिक्रांति के अनुसार शाक्य, श्रमणक (बौद्ध भिख्खू), निर्ग्रन्थ (जैनी श्रमणक, क्षपणक), पाषण्ड (पशुपत संप्रदायी), चार्वाक पंथी (लोकायत संप्रदाय) को भी नाट्यशास्त्र में हीन मानकर अ-दर्शनीय, विघ्नकर्ता कहा गया। उनके धर्म को 'ग्राम्य धर्म' कहा गया। नाट्यावतरण के अध्याय में इस ग्राम्य धर्म का उल्लेख इंद्र द्वारा दिया गया है। इस ग्राम्य धर्म पर विजय पाने हेतु इंद्रादि देवों ने ब्रम्हा से 'क्रिडनियक' की मांग की थी। ग्राम्य धर्म से तात्पर्य है वेद विरोधी धर्म विचार और आचार। और यही नाट्यावतरण की प्रेरणा है, जो इन पंथ और धर्मों के विरोध में थी, यह स्पष्ट किया जा सकता है। नाट्यविधा की पुनर्रचना, पुनर्लेखन, पुनर्सम्पादन, रूपांतरण, अनुवाद की प्रेरणा ग्राम्य धर्म के विरोध की आवश्यकता से निर्माण हुयी। नाट्यशास्त्र में वर्णित जनपदों को भी हीन माना गया। किंतु यह जनपद तथा यह जनपदीय प्राकृतभाषा पूरे नाट्यशास्त्र में विद्यमान है। नाट्यशास्त्रीय वृत्ति-प्रवृत्तियाँ भी जन जातियों की देन हैं। नाट्यशास्त्र में वर्णित धृवाएं भी प्राकृत भाषा में रची गयी हैं। गीत भी मागधी, अर्धमागधी, संभाविता, पृथ्रला आदि प्राकृत भाषाओं में है। नाट्यशास्त्र के

अनेक छंद प्राकृत भाषा में है। गायत्री, उष्णीक, बृहति, पंक्ती, जगति, त्रिस्ष्टूप ये सभी छंद प्राकृत के हैं। भरत पुत्रों के कई नाम बन्धुल, उग्र अंबष्ठक आदि अनार्य, नागवंशी तथा बहिष्कृत समाज से हैं। भरत वर्ग में आनेवाले सभी शिल्पी, शूद्र, अनार्य वर्ग से है। रंगभेद के परिप्रेक्ष्य में वर्णित किरात, बर्बर, आन्ध्र, पुलिन्द आदि का प्रदेश भी अनार्य है। मृधवाक, व्रात्य, म्लेच्छ, आदि का समावेश भी नाट्यशास्त्र अनार्य, शूद्रों में करता है। रंगभरण करनेवाले सभी भरतों को, भरतपुत्रों को, भरतवंश को, भरत जाति को, भरत गण को शूद्र कहा गया है। इसीलिए रामकृष्ण कवि, सुशील कुमार डे, आर. वी. जागीरदार, नरहर कुरूंदकर, भृंग तुपकरी, मुद्राराक्षस, नाट्यशास्त्र को अब्राम्हणी परम्परा का अविष्कार कहते हैं। कौटिल्य भी इस अब्राम्हणी समाज को रंगोपजीवी समाज कहता है। तात्पर्य अब्राम्हणी नाट्यविधा का ब्राम्हणीकरण कर नाट्यशास्त्र का निर्माता ब्रम्हा को निरूपित किया गया। वर्ण के तत्वानुसार नाट्यविधा को शास्त्र के रूप में नाट्यधर्मी बनाकर प्रस्तुत किया गया। क्योंकि अपनी सत्ता को स्थायी बनाने हेतु, अपने वर्ण वर्चस्व को कायम रखने हेतु पुनर्रचित 'पंचमवेद' ब्राम्हण समाज की ज़रूरत थी।

इस कृति को थॉमस हॉब्ज़ ने, हॉरोल्ड लॉसवेल ने *'Polictics for power'* कहा है। पॉल फ्रेडरीक ने इसे *'Cultural and Lingual Hegemony'* कहा है। अंतोनियो ग्रामची ने *'Cultural Hegemonty'* कहा है। गोपीचन्द नारंग इसे 'विभेद का तंत्र' मानते हैं। तात्पर्य इन सारी परिकल्पनाओं, सिद्धांतों के आधार पर हम यह मान सकते हैं कि वर्णाधिष्ठित समाज, संस्कृति, भाषा का वहन यह पुनर्रचित, पुनर्सम्पादित, पुनर्लिखित नाट्यशास्त्र दिखाई देता है, जो भरत कालीन समाज का भाषिक, सांस्कृतिक, सामाजिक व्यवस्था का परिदृष्य हमारे समक्ष रखता है।

■■■

नाट्यशास्त्र में दृश्यकला और रस

"रसभावा हयभिनया धर्मोवृत्ति - प्रवृत्तयः
सिद्धि - स्वरास्तथातोद्यं गानं रंगइच संग्रहाः॥

भरत ने नाट्यशास्त्र को रसभावादी संग्रह कहा है। रस भाव की विस्तृत चर्चा भी उन्होंने अपने इस नाट्यसंग्रह में की है। सबसे पहले रससिद्धांत की स्थापना भी भरत के नाट्यशास्त्र में ही की गयी है। रस नाटक का धर्म है। चतुर्विद अभिनयों के द्वारा चित्त में रसनिष्पत्ति करना, नाटक का मुख्य उद्देश नाट्यशास्त्र ने माना है। अभिनव गुप्त कहते हैं,

"नहि रसादृते कश्चिदप्यर्थ प्रवर्तते"

अर्थात् रसज्ञान के बगैर किसी भी नाट्योक्त विभावादी को जानना कठिन है। इसीलिए रस ज्ञान की आवश्यकता भरत ने प्रतिपादित की है। रस को नाटक का प्राण कहकर भरत नाट्यशास्त्र ने रस के आठ प्रकारों का वर्णन किया है। नाट्यशास्त्र के ६ अध्याय में रससूत्र की चर्चा की गयी है। इस सूत्र के अनुसार श्रृंगार, हास्य, करूण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्‌भुत यह आठ रस हैं। अभिनव गुप्त ने नाट्यशास्त्र के आधार पर ही शांत रस की स्थापना की है, जिसे अब सर्वमान्यता मिल चुकी है। इन रसों के क्रमशः रति (श्रृंगार), हास (हास्य), शोक (करूण), क्रोध (रौद्र), उत्साह (वीर), भय (भयानक), जुगुप्सा (वीभत्स), विस्मय (अद्‌भुत) तथा शम (शांत) आदि स्थायी भाव बताये गये हैं।

रसोत्पादन में स्थायी भाव महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। काव्यप्रकाश ने स्थायी भाव को ही रस माना है। "व्यक्तः स तै विभावाद्यैः स्थायीभावों रस स्मृतः।" अर्थात् विभाव, अनुभाव, संचारी भाव स्थायी भाव को रस के पदवी तक पहुंचाते हैं। "विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पतिः॥" इस रसोनिष्पति को ही भरत नाट्यशास्त्र ने नाट्यरस कहा है। विभाव प्रक्रिया के दो अंग महत्वपूर्ण माने गये हैं, जिसे आलम्बन तथा उद्‌दीपन भाव कहा गया है। यह भाव रसनिष्पादन प्रक्रिया का प्रारंभ करते हैं। जिसमें ३३ संचारी भाव का भी उल्लेख किया गया है। विभाव-अनुभाव-संचारी भाव के माध्यम से रस का निर्माण होता है। जिसमें चतुर्विद अभिनय अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का

निर्वहन करता है। इसमें आंगिक, वाचिक तथा सात्विक अभिनय के साथ आहार्य अभिनय, जो दृश्यकला *(Visual-Art)* तथा विन्यास *(Design)* से संबंधित है। उसकी चर्चा स्वतंत्र रूप से २३ वें अध्याय में की गयी है। भरत ने रस सूत्र की इस प्रक्रिया की व्याख्या मात्र नाट्यशास्त्र की दृष्टि से की है।

रस, दृश्यकला तथा विन्यास के परिप्रेक्ष्य में रस तथा आहार्य अभिनय के अंतर संबंधों की चर्चा आवश्यक है। आहार्य अभिनय में दृश्यकला का उल्लेख भरत नाट्यशास्त्र ने व्यापक अर्थो में किया है। साथ उनके अंतरसंबंधों की व्याख्या भी की है। आहार्य अभिनय के माध्यम से रसनिष्पादन की प्रक्रिया की सूचना भी दी है। आहार्य अभिनय के माध्यम से रसनिष्पादन कार्य को यहां स्पष्ट करना आवश्यक है। आंगिक, वाचिक, सात्विक अभिनय के साथ आहार्य अभिनय का चतुर्दिक अभिनय में भरत नाट्यशास्त्र ने समावेश किया है। आठवें में संक्षिप्त रूप में तथा तेईसवें अध्याय में उसकी विस्तृत चर्चा भी की है।

"यस्मात प्रयोगः सर्वोऽयमाहार्याभिनये स्थितः"॥ १ ॥

अथवा

"आहार्याभिनयो नाम ज्ञेयो नेपथ्यजो विधिः" ॥ २ ॥

भरत नाट्यशास्त्र ने समग्र नाट्यप्रयोग की निर्भरता आहार्य अभिनय पर डाली है। वेशविन्यास, अलंकार, परिधान, अंगरचना, निर्जीव लौकिक पदार्थ, सजीव प्राणियों के नाट्यधर्मी प्रयोग को आहार्य अभिनय कहा गया है। अन्य अभिनय प्रकारों जैसा रस का निर्माण करना, आहार्य अभिनय का भी मूल उद्देश्य माना गया है। क्योंकि रस नाटक का धर्म है।

आहार्य अभिनय के अंतर्गत आहार्य विधान चार प्रकारों में विभाजित किया गया है -

"चतुर्विधन्तु नेपथ्यं पुस्ताऽलंकार एव च।
तथांगरचना चैव ज्ञेयः सज्जीव एव च" ॥ ५ ॥

इस कारिका के अनुसार १) पुस्तरचना २) अलंकरण ३) अंगरचना ४) सज्जीव, यह चार विभाग है। पुस्तरचना में पहाड़ी, महल, यान, रथ, पालखी आदि का विधान है। मंचसामग्री के रूप में, उपकरण के रूप में उसकी उपयोगिता बताई गयी है। साथ ही उसे बनाने की विधि भी बताई गयी है। अलंकरण में शरीर पर पहने जाने वाले विविध गहने, मालाएं तथा अलंकरण के विविध उपादानों की चर्चा है। यह अलंकरण सौंदर्यबोधक, सौंदर्यवर्धक हैं।

अंगरचना में शरीर को सजाने की, रंगवाने की विधि बताई गयी है। सज्जीव अभिनय के अंतर्गत प्राणियों के मुखौटे, वेशभूषा की बात कही गयी है। इन चारों में अलंकरण को भरत विश्वकर्मा का शास्त्र कहते हैं। वस्त्रसज्जा, अलंकार, मालाएं आदि माध्यम से अभिनेता परकाया प्रवेश करता है। एक नये जीवसृष्टि की रचना करता है। रस निष्पादन में भी अलंकरण महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

आहार्य अभिनय में रंगों को भरत ने महत्वपूर्ण माना है। आहार्य अभिनय के चारों अंगों में उसकी उपयोगिता तथा प्रभाव को स्पष्ट किया गया है। अलंकरण तथा वस्त्रसज्ञा में रंगों के स्थान महत्वपूर्ण बताये गये हैं। रसों के लिए भी निश्चित रंग (वर्ण) की योजना की गयी है। श्रृंगार के लिए नीला अथवा श्याम, हास्य के लिए श्वेत, करूण के लिए कपोत (राखी/ग्रे), रौद्र के लिए लाल, वीर के लिए गौर या चमकीला श्वेत, भयानक के लिए काला, वीभत्स के लिए गहरा नीला, अद्‌भूत के लिए पीला, तथा शांत रस के लिए श्वेत रंग बताया गया है। यही रंग रस के साथ स्थायी भावों का भी प्रतिनिधित्व करते हैं। इन्हीं रंगों का प्रयोग पुस्त, अलंकार, अंगरचना तथा सज्जीव में देश, प्रदेश, जाति, अवस्था, मनोवृत्ति, भाव, प्रकृति, वय आदि के अनुसार करने के निर्देश नाट्यशास्त्र देता है। अंगरचना में रंग सिद्धांत की चर्चा भी की गयी है। अलंकरण में रंगगत वस्त्रसज्ञा के निर्देश दिये गये हैं।

"वर्णानान्तु विधिं ज्ञात्या वयः प्रकृतिमेव च
कुर्यादंगम्य रचनां देशजातिवयः श्रीताम्" ॥ ९ ॥

रंगों का मिश्रण, मूल रंग, पात्रों की आयु, अंगप्रकृत्ति, अवस्था, देश, जाति के अनुरूप रंगने की विधि नाट्यशास्त्र बताता है। रस क्रिया को 'रंगवर्तना' क्रिया कहा गया है। रंगवर्तना का संबंध भाव तथा भावों से रस का निर्माण होता है। रंग, दृश्यकला तथा विन्यास की महत्वपूर्ण इकाई है। ये रंग केवल रंग ही नहीं होते हैं, वे तो 'वर्तन' के भी प्रतीक होते है; स्वभाव के प्रतीक होते हैं; भावों के प्रतीक होते हैं।

सितो निलश्च पितश्च चतुर्थो रक्त एव च
एते स्वभावजा वर्णा यैः कार्यन्त्च रंगवर्तनम्" ॥ ७५ ॥[८]

इन रंगों से अंगरचना, वस्त्रविन्यास के माध्यम से चरित्र भूमिका को धारण करता है। चरित्र आचार चेष्ठाएं तथा भावों का अनुसरण करता है। यहां रंगवर्तना रस पोषण के लिए पर्यावरण का निर्माण करता है। रंग के साथ

वेशभूषा के तारतम्य को भी नाट्यशास्त्र अधोरेखित करता है। विचित्र वेश, शुद्ध, वेश, मलीन वेश, प्रतिशीर्ष तथा मुखौटे आदि भी नाटक की दृष्यात्मकता को बढ़ाते हैं। भरत की रंगरचना वृत्ति, प्रवृत्ति, देश, प्रदेश, वर्ण (जाति), शुभ, अशुभ लक्षण, मनोवस्था, सामाजिक स्थिति, स्वभाव तथा अवस्था से जुड़ी है। उसी के माध्यम से भरत नाट्यशास्त्र रस तथा भावों की अभिव्यक्ति की आवश्यकता को प्रतिपादित करते हैं -

"एवं नाना प्रकारेण बुध्या चैषा विभज्य च"॥ ४८ ॥

"अतस्तै भूशणैश्चित्रैर्माल्यैस्थति च।

अवस्थाप्य कृतिस्थाप्या प्रयोगरस सम्भवा "॥ ४९ ॥

अर्थात् पात्रों का विचारपूर्वक विभेद जानते हुये, उनकी अवस्था, प्रकृति आदि को उनके वेश, अलंकार, विभिन्न कार्य तथा मालाओं आदि से प्रकट करते हुये तथा भावों को नाट्यप्रदर्शन में रसों तथा भावों को अभिव्यक्त करे। भरत यहाँ आहार्य अभिनय के माध्यम से दृश्यात्मक उपकरण का उपयोग रस और भाव की निर्मिति में महत्वपूर्ण मानते हैं। आहार्य अभिनय को नाट्यप्रदर्शन का अलंकार मानकर उसे 'नेपथ्यज' अलंकार भी नाट्यशास्त्र में कहा गया है।

नेपथ्यज अलंकार अथवा आहार्य विधान को विष्णु धर्मोत्तर पुराण, भोज, वामन, शंकुक आदि ने चित्रकला से भी जोड़ा है। विष्णू धर्मोत्तर पुराण के अनुसार 'चित्रकला का मूल सिद्धांत अनुकृति है, जो नाट्यकला का भी मूल सिद्धांत है। चित्र लक्षण में चित्र को 'भित्तिक' या पार्श्वगत कहा गया है, जिसका साम्य नाटक के दृश्यविन्यास से है, जो कभी चित्रफलक या चित्रपट के रूप में नाटक में विद्यमान होता है। भोज ने इन चित्रों के संदर्भ में चित्ररस को स्थापित किया है, जो नाट्यरस के समान ही है। शंकुक ने 'चित्रतुरग न्याय' अथवा 'अनुभव' को भाव और रस सदृश्य ही माना है। विष्णु धर्मोत्तर पुराण ने सौंदर्य की परिकल्पना में नाट्यशास्त्र, चित्रशास्त्र को एक ही सिक्के के दो पहलुओं के रूप में निरूपित किया है।

रेखा च वर्तना चैव भूषण वर्णमेव च।

विज्ञेया मनुजश्रेष्ठ चित्रकर्मसु भूषणाम्॥ ११ ॥

अर्थात् रेखा, वर्तना, भूषण तथा नाट्यसौंदर्य की सामग्री को चित्रशास्त्र में चित्र सौंदर्य का साधक कहा गया है। सौंदर्यबोध को रस से अलग नहीं किया जा सकता। शंकुक के रसास्वादन प्रक्रिया में इसी सौंदर्यबोध तथा रसोत्पति को व्याख्यायित किया गया है। दृश्यकला और रस का अंतरसंबंध सौंदर्यानुभूति से

जुड़ा हुआ है। 'विष्णु धर्मोत्तर पुराण' कहता है, "रस, भाव, दृष्टि, अंग, उपांग, हस्त आदि की अवधारणाएं चित्र में उसी प्रकार विनियुक्त होती हैं।" भोज ने भी 'समरांगण सूत्रधार' में तथा सोमेश्वर ने 'मानसोल्लास' आदि ग्रंथों में "नाट्यशास्त्र में निरूपित आंगिक, अभिनय, हस्तभेद, दृष्टि, मुद्राएं आदि का प्रतिफलन चित्र में भी प्रतिपादित किया है।" वामन ने भी दशरूपक में 'चित्रसाकल्य' के गुणधर्मों को निरुपित किया है। "संदर्भेशु दशरूपकं श्रेयाः। तद्धि चित्रं चित्रपटवद विशेष साकल्यात"॥ इसके अलावा शिल्पकला, भाण्डकला, नृत्यकला आदि का संबंध भी नाट्यकला से, रसों से, भावों से स्थापित करने का प्रयत्न विष्णु धर्मोत्तर पुराण, समरांगण सूत्रधार, मानसोल्लास, काव्यालंकार सूत्र आदि ग्रंथों में किया गया है। प्रतिमा लक्षण को आंगिक अभिनय से जोड़कर भोज ने अपने 'श्रृंगार प्रकाश' में, समरांगण सूत्रधार में चित्र, मूर्ति, प्रतिमा के साथ वास्तुशास्त्र का भी संबंध रसों से जोड़ा है तथा उसका रसशास्त्रीय सिद्धांत के आधार पर निरूपण भी किया है।

नाट्यशास्त्र में प्रेक्षागृह की रचना में कक्षा विभाग का विधान है। रंगमंच का विभिन्न क्षेत्रों में काल्पनिक विभाजन कर रेखाओं द्वारा अभिनय क्षेत्र, अभिनय व्यापार क्षेत्र बाँटे गये हैं। कक्षा विभाग यह एक नाट्यधर्मी युक्ति है, जो विन्यास की आधारभूमि है। रंगमंच का तिर्यक/उर्ध्वगामी (हॉरीज़ेन्टल) तथा उर्ध्वज (वर्टीकल) रेखाओं का विभाजन भी दृष्यकला से अपना संबंध स्थापित करता है। क्योंकि दृश्यविन्यासन की परिकल्पना में रूप *(Form/Shape)* रंग *(Colour)* प्रकाश *(Light)* के साथ रेखाएं भी महत्वपूर्ण मानी जाती हैं। लंब रेखाएं *(Vertical Lines)* ऊँचाई, भव्यता, उदात्तता, महत्वकाक्षाएं, आत्मविश्वास आदि भावों को व्यक्त करती हैं। समानान्तर रेखाएं *(Parallel Lines)* जड़ता, निरूत्साह, करूणा, यातना, दुःख, विवशता, परावलंबत्व, निराधार आदि भाव, तथा तिरछी रेखाएं बिजली, गति, चंचलता, तीव्रता, अस्थिरता आदि भावों के साथ कई संचारी भावों को अभिव्यक्त करती हैं। कुल मिलाकर, रंग, रेखाएं, आकार तथा प्रकाश अपने आप में मनौवैज्ञानिक अर्थ का वहन करते हैं। यही अर्थ प्रथम भाव तद्पश्चात् रसों के निर्माण की प्रक्रिया को गति देता है।

रस, दृश्यकला तथा विन्यास का आधुनिक परिप्रेक्ष्य

पारंपरिक यथार्थवादी दृश्यविन्यासन पद्धति को स्वीकृत कर, एक नई दृश्य विन्यासन पद्धति एडोल्फ ऑप्पिया तथा गार्डन क्रेग ने इजाद की। प्रकाश, संगीत, आकार, रेखा तथा रंगों का प्रयोग कर भाव तथा रसनिष्पति की नई

अवधारणाओं को स्थापित किया। पात्रों की आंगिक, वाचिक चेष्टाओं द्वारा नाट्य वातावरण अथवा नाट्य पर्यावरण के अस्तित्व का एहसास दर्शकों को करवाने की क्रिया-प्रक्रिया को भरत ने आहार्य अभिनय कहा है। ऑप्पिया तथा क्रेग इन दोनों ने ही नाट्य वातावरण अथवा नाट्य पर्यावरण को प्रभावोत्पादन हेतु महत्वपूर्ण माध्यम माना है। किंतु उसके लिए पारंपरिक दृश्य विन्यासन की परिपाटी को उन्होंने स्वीकार नहीं किया। भरत के नाट्यशास्त्र में दृश्यविन्यासन की परिकल्पना पारंपरिक ही है। भरत की कल्पना, केवल पुस्त रूप की कुछ प्रतिकृतियाँ वस्त्रसज्जा तथा रूपसज्जा तक ही सीमित है। मंच सज्जा का तात्पर्य केवल मंच को सुशोभित करनेवाले उपकरण, उपादान, अथवा मंच सामग्री तक सीमित हैं। किंतु आधुनिक रंगतंत्र में प्रकाश, ध्वनि, वस्त्रसज्जा, रूपसज्जा तथा विशेष आकार को महत्व दिया गया है। इन इकाइयों के माध्यम से भावानुकूल पर्यावरण निर्माण करने के कार्य को महत्व दिया जाता है। ये इकाइयाँ केवल वस्तु रूप नहीं बल्कि चरित्रगत विशेषताएं भी धारण करती हैं। गार्डन क्रेग ने "रंग, रेखा के अव्यक्त रूपों को *(Abstract Form)* नाटक के लिए योग्य वातावरण तैयार करनेवाले तत्व कहा है।" इसी दृश्य विन्यासन की अवधारणाओं पर क्रेग का दर्शन खड़ा हुआ है। दृश्य विन्यासन के क्षेत्र की कलात्मक प्रगति इसी दर्शन के आधार पर हुयी है। दृश्यविन्यास में चैतन्य, ऊर्जा, जीवंतता, निर्माण करने का कार्य ऑप्पिया एवं क्रेग ने किया है। ऑप्पिया ने संगीत और प्रकाश के ऑर्केस्ट्रायजेशन की अवधारणा को प्रतिपादीत किया। राबर्ट एडमंड जोन्स ने चरित्रों की कृति को पर्यावरण उपलब्ध करानेवाले तत्वों के रूप में दृश्यविन्यास को महत्वपूर्ण माध्यम के रूप में निरूपित किया है। *Vitality, Spirit, Atmosphere, Environment, Ambiance* आदि संज्ञायें इन आधुनिक दृश्यविन्यासकों ने प्रयोग में लायी हैं, जो सौंदर्यबोध के लिए महत्वपूर्ण होता है। अर्थात रस, भाव के निर्माण के लिए यह परिकल्पनाएं अत्यावश्यक मानी गयी हैं।

रंग, रूप, रेखा, प्रकाश, आकार को ऑप्पिया तथा क्रेग ने अपनी दृश्य विन्यासन की परिकल्पना में महत्वूपर्ण स्थान दिया है। ऑप्पिया ने प्रकाश तथा संगीत के साथ कई नये प्रयोग किये। वहीं क्रेग ने आकार और रूप के साथ नये-नये विन्यासों *(Design)* की रचना की। अभिनेता के अभिनय हेतु उनका दृश्य विन्यासन आलंबन, उद्दीपन भावों को निर्माण करनेवाला होता था। जो स्थायी भावों को प्रेरित कर रस निर्माण की प्रक्रिया को गति देते थे। दृश्य

विन्यासन और रस के अंतरसंबंधों को पहली बार ऑप्पिया तथा क्रेग ने प्रतिष्ठित किया। "ऑप्पिया ने सौंदर्य बोध तथा नाट्योचित पर्यावरण के निर्माण की दृष्टि से प्रकाश और विभिन्न प्रकाश किरणों में संयोजन, उनके द्वारा रंगों के मिश्रण से प्रस्तुति और नाट्यानुभूति के नये आयाम जोड़े" यहाँ नाट्यानुभूति का तात्पर्य रस-भाव से है। वहीं क्रेग ने ऊर्ध्व, अधोगत रेखाओं का उपयोग कर चरित्र के अंतर्गत सच्चाई को *(Inernal Truth)* को उबारने की कोशिश की। स्तानिस्लावस्की निर्देशित 'हॅम्लेट' नाटक के लिए यथार्थवादी दृश्य विन्यास को त्यागकर प्रतीकात्मक *(Symbolic),* सूचक *(Suggestive)* तथा रचनात्मक *(Constructive)* दृश्य विन्यास का निर्माण किया गया था। रंग, रेखा, आकार, रूप, प्रकाश तथा अवकाश के मिश्रण से उन्होंने हॅम्लेट नाटक को वो ऊंचाई प्रदान की, जो एक यथार्थवादी दृश्य विन्यासन कभी नहीं दे सकता था। क्रेग, ऑप्पिया ने पहली बार 'स्थिति' के बजाए 'मनोवस्था *(State of mind)* को प्राथमिकता दी, जो रस निर्माण की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। रंग, रेखाएं, आकार, रूप, प्रकाश के माध्यम से क्रेग और ऑप्पिया ने एक ऐसा संसार खड़ा किया, जो जीवंतता, चैतन्यशील, ऊर्जामयता से भरपूर था। रस भावों की एक नई दुनिया का अपने दृश्य विन्यासन के माध्यम से निर्माण किया। रसों का निर्माण ही प्रत्येक कला का अंतिम उद्देश्य है। नाट्यशास्त्र यही कहता है। फिर दृश्यकला भी उसके लिए अपवाद कैसे हो सकती है!

■■■

दृश्यकला एवं विन्यास में रस

रससूत्र की सर्वप्रथम व्याख्या भरत के नाट्यशास्त्र में व्यक्त की गयी है। अर्थात भरत ने यह व्याख्या नाट्यदृष्टि के परिप्रेक्ष्य में की है। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में श्रृंगार, हास्य, करूणा, रौद्र, वीर, वीभत्स, अद्‌भुत, भयानक आदि आठ रसों की चर्चा की है। तत्पश्चात अभिनव गुप्त ने उसमें शांत रस सम्मिलित किया। अब नाट्यशास्त्र के यह नौ रस माने जाते हैं। नाट्यशास्त्र के अनुसार किसी भी कला का मुख्य उद्देश्य रसों की उत्पति माना जाता है। नाट्यशास्त्र भरत वंश को 'रस को ढोनेवाला' कहता है। अभिनेता और दर्शकों के अंतर संबंधों के परिप्रेक्ष्य में भरत रस को व्याख्यायित करते है। रस का अर्थ स्वाद, आनंद सुख, अनुभूति आदि *(Flavour, Relish, Taste, Enjoyment)* कहा गया है। यह एक प्रक्रिया है, जो दर्शकों की अनुभूति, अभिनेता की अभिव्यक्ति तथा भावों की उत्पति के साथ घटित होती है। भरत नाट्यशास्त्र के षष्ठाध्याय में रससूत्र की चर्चा की गयी है। इस से संबंधित भाव की सप्तमाध्याय में, अभिनय की अष्ठमाध्याय में, आहार्य अभिनय से संबंधित रस की तेईसवें तथा षड्‌जग्रामाचित जातियों के रस-विधान चर्चा उन्तीसवें अध्याय में की गयी है।

भरत नाटक को रसभावादी संग्रह कहते हैं।

"रसभावा हयभिनया धर्मोवृत्ति-प्रवृत्तयः।
सिद्धि-स्वरास्तथातोद्यं गानं रंगश्य संग्रहाः॥ " (नाट्यशास्त्र-६/११)

रस नाटक का धर्म है। चतुर्विद अभिनयों के द्वारा चित्त में रस निष्पति का निर्माण करना नाटक का उद्देश्य होता है। रसोत्पादन में महत्वपूर्ण तत्व विभाव, अनुभाव, संचारी भाव स्थायीभाव को महत्वपूर्ण बनाते हैं। इसीलिए 'नहीं रसादृते काश्चिद व्यर्थ प्रवर्तते' कहा जाता है। अर्थात् बिना रस ज्ञान के किसी भी नाट्य का विभावादि जानना समझना कठिन होता है। रस में स्थायीभाव सबसे महत्वपूर्ण माना जाता हैं।"व्यक्तः स तै विभावाद्यैः स्थायीभावो रस स्मृतः॥ " (काव्य प्रकाश - ४/२८) स्थायीभाव को ही इस प्रकार रस कहा गया है। नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटक के परिप्रेक्ष्य में इसे नाट्यरस कहा गया है।

"विभावानुभाव व्यभिचारीसंयोगाद्रसनिष्पतिः" अर्थात् विभाव, अनुभाव, संचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। यही नाट्यरस कहलाता जाता है। यही नाट्यरस सौंदर्यानुभूति कराता है। इसलिए भरत प्राणित रससिद्धांत महत्वपूर्ण माना जाता है।

यहीं रससिद्धांत की दृश्यकला *(Visual Arts)* के संदर्भ में, किंतु विशेषतः नाट्यकला के परिप्रेक्ष्य में चर्चा आवश्यक है। अगर नाट्यशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में इस विषय का परिशीलन करना है तो नाट्यशास्त्र में वर्णित चातुर्दिक अभिनय के आहार्य अभिनय का प्रथम विचार करना आवश्यक है। क्योंकि इसी अभिनय का संबंध दृश्यकला तथा विन्यास *(Visual Arts and Design)* से है। जिस पर नाट्यशास्त्र के अध्याय आठ तथा तेईस में चर्चा की गयी है। इस के अलावा प्रेक्षागृह से भी उसका संबंध जोड़ा है। 'प्रेक्षागृह का आकार रस के साक्षात्कार के लिए उचित होना चाहिए' ऐसा निर्देश नाट्यशास्त्र देता है। क्योंकि अभिनेता के अनुकार्य में प्रेक्षागृह तथा दृश्यविन्यास महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। दृश्यकला, विन्यास, अभिनय, अभिनेता तथा रसोत्पादन के आंतरिक संबंधों को यहीं से गति मिलनी प्रारंभ हो जाती है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार समग्र नाटयप्रयोग आहार्य अभिनय पर निर्भर करता है। नाटक की सफलता में आहार्य अभिनय महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। "यस्मात् प्रयोगः सर्वोडयमहार्या भिनये स्थितः" इस अवधारणा के साथ भरत ने नेपथ्य की ओर इशारा किया जो नाटक के लिए शुभकारक होता है। और जो एक विधि का काम भी करता है, जो आहार्य अभिनय की परिकल्पना को पूर्णता प्रदान करता है। "आहार्य भिनयो नाम ज्ञेयो नेपथ्यजो विधिः। तत्र कार्य प्रयज्ञस्तु नाटस्य शुभमिच्छता" भरत की आहार्य की अभिनय की परिकल्पना विस्तृत तथा व्यापक है। भरत ने आहार्य अभिनय को चार प्रकारों में विभाजित किया है। यह सारा अभिनय अवस्थानुरूप किया जाता है। वेशविन्यास, अलंकार, परिधान, अंगरचना, निर्जीव लौकिक पदार्थ, सजीव प्राणियों के नाट्यधर्मी प्रयोग को भरत आहार्य अभिनय कहते हैं। इस आहार्य अभिनय में पुस्तरचना (पहाड़ी, महल, यान, रथ, पालकी आदि की रचना), अलंकार (धातु, फूलों के अलंकार), अंगरचना (विविध रंगों से अवस्थानुकूल शरीर को रंगना), सज्रीव (प्राणियों की खाल, मुखौटे के साथ अभिनय) आदि चार आहार्य

अभिनय की इकाइयाँ हैं। इसे भरत ने "अचुर्विधन्तु नेपथ्य पुस्तोएलंकार एव च। तथांगरचना चैव ज्ञैयः सज्रीव एव च" इस प्रकार व्यक्त किया है। अलंकार 'भावा' नुरूप होने का आग्रह भरत करते हैं। यही भाव रस का आधार होते हैं। अलंकरण एक प्रकार की दृश्यकला है। जिसका संबंध सौदंर्य एवं सौंदर्यबोध से होता है। भरत की बताई वेशगत विशेषताओं में रंगों को महत्व दिया गया है। यह रंग वृत्ति, प्रवृत्ति, देश, जाति, भाव, रूचि, अवस्था तथा प्रकृति से जुड़े होते हैं। नीला, पीला, हरा, श्वेत, केशरिया, आदि रंगों को भावात्मक रागों से जो संबंध होता है, उसे स्पष्ट किया है। भरत आहार्य अभिनय को विश्वकर्मा प्रणित शास्त्र मानते हैं और इसका दृश्यकला तथा विन्यास से अविभाज्य संबंध भी है।

भरत वर्णित आहार्य अभिनय का संबंध केवल सौंदर्यात्मक नेपथ्यज उपकरणों से नहीं है, वे तो उसके उत्पादक माध्यम भी है। उनका संबंध रंग *(Colour)*, रेखा *(Lines)*, आकार *(Shape)* तथा प्रकाश *(Light)* से है। जो निर्जीव वस्तुओं को भी सजीव बना देते हैं। साथ ही देश, प्रदेश, जाति, वेशभूषा, केशभूषा, भाव, अवस्था, वृत्ति, प्रवृत्ति, कर्म वय, आदि सभी लक्षणों को जीवंत बनाते हैं।

"वर्णनान्तु विधि ज्ञात्वा वयः प्रकृतिमेव च।
कुर्यादंगम्य रचनां देशजातिवयः श्रिताम्"

भरत ने आहार्य अभिनय के माध्यम से रंगों को भाव और रस में घोल दिया है। उसे भरत रंगवर्तना कहते हैं। यह रंगवर्तना स्वभाव को अभिव्यक्त करते हुये रंगगत संगति तथा विराधाभास को भी भावों में बदल देते हैं।

"सितो नीलश्य पितश्च चतुर्थो रक्त एव च।
एते स्वभावजा वर्णा यैः कार्यन्त्व रंगवर्तनम"

यह रंग (रूपसज्ञा) परकाया प्रवेश प्रक्रिया में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। विविध रंगों से सजे वस्त्र भी विविध भावों के निष्पादन में महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। तात्पर्य रंग किस प्रकार भाव और रस निष्पादन करते हैं, यह भरत ने सविस्तार से समझाया है। आगे भरत कहते हैं -

"एवं नाना प्रकारेण बुध्या चैशां विभज्य च।
अतस्तै भूशणैष्चित्रैर्माल्यैरथाति च

अवस्थाश्य कृतिःस्थाप्या प्रयोगरससम्भवा"

अर्थात् पात्रों का विचारपूर्वक विभेद जानते हुये उनकी अवस्था, प्रकृति आदि को उनके वेश, उनकी अवस्था, प्रकृति आदि को उनके वेश अलंकार, विभिन्न कार्य तथा मालाओं आदि से प्रकट करते हुये तथा भावों को नाट्यप्रदर्शन में रसों तथा भावों को अभिव्यक्त करे। भरत की यह व्याख्या दृष्यकला में छिपी भाव तथा रस की संभावनाओं को व्यक्त करती है। दृश्यरचना के विभेद अंततः एकात्मता 'रस' के रूप में निष्पादित होती है। आहार्य अभिनय में वर्णित उपकरण मुखौटे, भाण्ड, काष्ठ वस्तु, शिल्पगत वस्तु, मुकुट (प्रतिशीर्ष) आदि का संबंध विन्यास *(Design)* से है जो अंततः रसनिष्पति की प्रक्रिया का ही भाग बनते हैं। भरत इस सारी प्रक्रिया को 'नेपथ्यज विधान' कहते है।

"भित्ति का आधार चित्ररचना के लिए अपेक्षित है, उसी तरह अभिनय के प्रयोगरूपी चित्र का आधार आहार्य अर्थात नेपथ्यज अभिनय होता है।" और उसे नाट्य प्रदर्शन का अलंकार कहा गया है। अभिनव गुप्त भी नेपथ्य और रस के अंतरसंबंधों को महत्वपूर्ण मानकर रस निष्पादन में नेपथ्यज अथवा आहार्य अभिनय की भूमिका को प्रतिपादित करते हैं। चित्रकला, शिल्पकला, विन्यासन, रंगकला आदि आहार्य अभिनय के महत्वपूर्ण अंग हैं। सौंदर्यबोध के संदर्भ में अभिनय, भाव, रस इन तीनों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण होती है, जिसे हम चित्रकला के परिप्रेक्ष्य में भी देख सकते हैं। विष्णु धर्मोत्तर पुराण के अनुसार "इस भाव, दृष्टि, अंग, उपांग, हस्त आदि की अवधारणाएं चित्र में उसी प्रकार विनियुक्त होती हैं।" भोज ने भी 'समरांगणसूत्रधार' में तथा सोमेश्वर ने 'मानसोल्लास' में चित्र का निरूपण करते हुये नाट्यशास्त्र में निरूपित आंगिक अभिनय, हस्त, भेद, दृष्टि आदि का प्रतिफलन चित्र में भी प्रतिपादित किया है। काव्यलंकार सूत्र में वामन ने चित्र की विशेषताओं की तुलना दशरूपक से की है तथा उनमें समानताएं होने की बात कही है।

विष्णु धर्मोत्तर पुराण में नाट्यशास्त्र की तरह चित्रकला में भी नौ रस माने गए हैं। साथ ही रस निष्पत्ति तथा रसास्वादन का भी अनुशीलन नाट्य एवं चित्रकला के संदर्भ में किया है। 'भावविन्यास' की प्रक्रिया को भी स्पष्ट किया है जिसमें रस को अंतिम प्रतिफलन कहा गया है। विष्णु धर्मोत्तर पुराण हो, भोज, शंकुक वामन की टीकाएं हो या भरत का नाट्यशास्त्र हो, रस को ही

नाट्य अथवा चित्र हो उसका प्राण मानते हैं।

''न रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते'', क्योंकि यही प्राण चित्र या अभिनय उसमें चैतन्य, ऊर्जा, जीवंतता, आलोक का निर्माण करता है। यही भूमिका आधुनिक दृश्य विन्यासकार भी स्वीकारते हैं।

उन्नीसवीं सदी में ॲडोल्फ ऑप्पिया तथा गार्डन क्रेग ने अपनी दृश्यविन्यासन शैली से रसनिष्पति की प्रक्रिया को महत्वपूर्ण माना है। उसके अनुरूप रंग, रूप, रेखा तथा प्रकाश के संयोजन-आयोजन के नये प्रयोग भी किये हैं। उन्होंने भावों का विन्यासन दृश्य विन्यासन के रूप में किया। ''ऑप्पिया ने सौंदर्यबोध तथा नाट्योचित पर्यावरण के निर्माण की दृष्टि से प्रकाश और विभिन्न प्रकाश किरणों में संयोजन, उनके द्वारा रंगों के मिश्रण से प्रस्तुति और नाट्यानुभूति में नये आयाम जोड़े'' ऑप्पिया ने रंग, रेखा, रूप तथा प्रकाश के द्वारा स्थायी भावों को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया। यह स्थायी भाव जो चित्रवृत्ति रूप होता है उसे उद्दीपित करने का तथा आलंबन भावों की निष्पत्ति का कार्य रंग, रेखा, रूप तथा प्रकाश के संयोजन से ऑप्पिया ने कर दिखाया।

अभिनेता अपने अभिनय कौशल तथा नाटकीय वातावरण (रंग, रेखा, रूप, प्रकाश) की सहायता से मूल पात्र के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है। और नाट्यवातावरण के साथ भावभिव्यक्ति भी हो जाता है। अभिनेता के साथ नाटकीय वातावरण (आहार्य विधान अथवा नेपथ्यज विधान) को भरत से लेकर ऑप्पिया, क्रेग तक सभी ने महत्वपूर्ण माना है, क्योंकि दृश्यविन्यासन नाटकीय वातावरण निर्माण कर अभिनेता की मदद से भाव और रस का निर्माण करता है। इसीलिए उन्होंने दृश्यविन्यासन (दृश्यकलात्मक नेपथ्य) को प्रतीतिजन्य अथवा प्रतीतिदर्शक होने की आवश्यकता को प्रतिपादित किया है। *"Scenic Illusion is the living Presence of the Actor"* ऑप्पिया इस लिविंग प्रेज़ेन्स को अभिनेता से जोड़कर भावोत्पति, रसोत्पति के प्रेरणास्त्रोत के रूप में नाटक के वातावरण को प्रतिष्ठा दिलाते हैं। भरत भी इस नाट्य वातावरण की निर्मिति को आहार्य अभिनय का मुख्य कार्य मानते हैं। गार्डन क्रेग ने इस नाट्यवातावरण की अपनी परिभाषा इस प्रकार की है। ''निर्देशक जब नाटक पढ़ता है, उसका चिंतन करता है, तब उसके दिव्यचक्षु के समक्ष जो रंग, रेखा, के कई अव्यक्त रूप *(Abstract Form)* जन्म लेते हैं, उसके आधार पर नाटक

के लिए योग्य वातावरण को तैयार करना आवश्यक है। इसी वातावरण में योग्य वस्त्रसज्जा, रंगसज्जा किये गये चरित्रों को छोड़ देना चाहिए।'' गार्डन क्रेग यहाँ दृश्यविन्यास की क्षमता को दर्शाना चाहते हैं। यही क्षमता भाव और रस उत्पति का साधन बनती है, जिसका आधार गार्डन क्रेग दृश्यविन्यास द्वारा निर्मित नाट्य वातावरण को मानते हैं।

ऑप्पिया भी इसी नाट्य वातावरण को महत्वपूर्ण मानते हैं। ''छाया-प्रकाश के रंगों से बना कोई एक डिज़ाइन विविध सुरों से सजी हुयी संगीत रचना के समान ही अर्थगर्भ एवं काव्यात्मक हो सकता है। संगीत के समान ही मनुष्य के अंतर्मन की तह तक पहुँचने की क्षमता उसमें होती है'' - दृश्यविन्यास द्वारा निर्माण होनेवाले वातावरण को अधिक अर्थगर्भ तथा आशय सम्पृक्त बनाने का कार्य ऑप्पिया ने अपने दृश्यविन्यासन द्वारा किया है। यही वातावरण रसनिष्पति करता है। आलंबन, उद्दीपन भावों का निर्माण करता है, जिससे रसनिर्माण की प्रक्रिया को गति मिलती है। इसीलिए ऑप्पिया, क्रेग ने नेपथ्य, मंचसज्ञा, रूपसज्जा, वस्त्रसज्जा, संगीत, प्रकाश, आलोकन को रसनिर्माण का माध्यम मानकर दृश्यकला का नाट्य प्रस्तुति में महत्व सिद्ध किया है। *"Scenery should be Visual Expression of the Dynamaic sprit of play in all that comes before eyes."* क्रेग दृश्य वस्तुओं में चैतन्य निर्माण की शक्ति को महत्वपूर्ण मानते हैं। वहीं ऑप्पिया प्रकाश तथा संगीत में चैतन्य की खोज करते हैं। *"Scenery in the best scence is the light and plastic element which by surround a living and active presence on the stage adds to its vitality"* लिविंग प्रेझेन्स (जीवंत वर्तमान) का निर्माण रसनिष्पति में कैसे सहायक बनता है तथा उसमें दृश्यकला कैसे अपनी भूमिका वहन करती है; इसका विस्तृत वर्णन ऑप्पिया करते हैं। राबर्ट एडमंड जोन्स *"Scenery should be the Enviroment for action"* कहकर दृश्यविन्यास में वातावरण को कृति का कारक तत्व मानते हैं। संगीत का, प्रकाश का, रंगों का, रेखाओं का, आकारों (रूप) का आर्केस्ट्रायजेशन वातारण का निर्माण करता है। यही वातावरण अभिनेता के क्रियाकलापों को रस में परिवर्तित करते हैं। सभी दृश्य विन्यासकार इसलिए वातावरण निर्माण को महत्वपूर्ण मानते हैं। यही वातावरण नाटक को सघन बनाता है। नाटक को सौंदर्य प्रदान करता है। सौंदर्भ बोध और दर्शन के लिए इसे आवश्यक माना गया है।

ऑप्पिया ने दृश्यकला को केवल एक वस्तुरूप नहीं माना बल्कि वस्तु के 'एंसेस' (सत्व) को चैतन्य तत्व रूप माना है। वे आभासात्मक यथार्थ के बजाय मनुष्य के मन में उपजे भावात्मक यथार्थ को महत्व देते हैं। अभिनेता के मन की आंतरिक प्रक्रिया को दर्शकों के मन की आंतरिक प्रक्रिया से जोड़ते हैं। *"The Human body does not seek to produce the ileusion of reality, since it is in it self reality we must free stage of everything that is in contradiction with actor's presence. Scenic illusion is the living presence of Actor"* विश्व के कई अन्य दृश्य विन्यासक भी *'Kinetic Relation between the individual and his society'* की बात कर अभिनेता, समाज और उनके बीच के पर्यावरण को रसनिर्माण की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण मानते हैं और यह पर्यावरण निर्माण का कार्य दृश्यकला दृश्यविन्यासन में रसों का निर्माण करने की क्षमता होती है। इन क्षमताओं की खोज पहली बार ऑप्पिया और क्रेग ने की, जो दृश्यकला एवं विन्यास में 'रस' की उत्पत्ति को नये ढंग से परिभाषित करते हैं।

■■■

नाट्यकला और दृश्यकला का अंतर संबंध

नाट्यकला संमिश्र कला है। नृत्य, संगीत, चित्रकला, शिल्पकला और नाट्यकला मिलकर एक संपूर्ण रंगमंचीय कला *(Theatrical Art)* बनती है। भरत के नाट्यशास्त्र में भरत ने कहा है -

"न तज्ज्ञानं तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।

नासौ योगो-न तत्कर्म नाट्य स्मिन यन्न दृश्यते॥ " (नाट्यशास्त्र १.११६)

अर्थात् - ऐसा कोई ज्ञान, शिल्प, कला, योग, कर्म नहीं, जो इस नाट्यकला में शामिल नहीं है। भरत के नाट्यशास्त्र में अभिनय, साहित्य, रस, व्याकरण, चित्रकला, शिल्पकला, गीत-संगीत कला आदि सभी विषयों का विवेचन किया गया है।

नाट्यशास्त्र में नाटक को अनुकृति या अनुकरण कहा गया है। अर्थात् यह तत्व सभी ललित कलाओं का आधारभूत तत्व है। अंतरअनुशासनिक दृष्टिकोण से भी उनके पारम्परिक संबंध को व्याख्यायित किया जा सकता है। विष्णु धर्मोत्तर पुराण में भी इन अंतर संबंधों का विवेचन किया गया है।

एते कला कौशल सम्प्रयुक्ताः कार्यास्तथा लोकविधानयुक्ताः।

धर्मार्थ कामाद्युपदेशकाश्चहिताय लोकस्थ नरेंद्रचन्द्र॥ (विष्णु धर्मोत्तर पुराण-१७.६३)

तात्पर्य - नाट्यकला विभिन्न कलाओं के कौशल में युक्त, समन्वित तथा धर्म, अर्थ और काम के उपदेशक होते हैं, जिसका प्रयोग लोकहित में किया जाता है। इतना ही नहीं; चित्रकला और नाट्यकला संबंधों पर भी इस पुराण में प्रकाश डाला गया है, शिल्प, बिंब, चित्र तथा नाट्यकला की अंतर निर्भरता भी स्पष्ट की है।

"चित्रसूत्रं न जानाति यस्तु सम्यंग नराधिप।

प्रतिमा लक्षणं वेत्तु न शक्यं ते कर्हिचित्॥ (विष्णु धर्मोत्तर पुराण - २, २-८)

अर्थात् - जो अच्छे प्रकार से चित्रसूत्र नहीं जानता, वह अच्छी तरह से प्रतिमाओं के लक्षण भी नहीं जान सकता। नाट्यसूत्र के बगैर चित्र सूत्र, प्रतिमा लक्षण भी वह नहीं जान सकता। और चित्र सूत्र, प्रतिमा लक्षण के बगैर

नाट्यसूत्र भी कोई समझ नहीं सकता।

इस प्रकार नाट्यकला का दृश्य कलाओं से अपना अंतर संबंध स्पष्ट होता है। नाट्यशास्त्र में वर्णित चतुर्दिक अभिनय में आंगिक, वाचिक, सात्विक अभिनय के साथ आहार्य अभिनय का भी वर्णन किया गया है। जिसका दृश्यकला से निकट का संबंध है। वस्तुतः भरत के नाट्यशास्त्र में 'दृश्यविन्यास' के प्रयोग के कोई सबूत नहीं मिलते। नाट्यशास्त्र का आहार्य अभिनय से तात्पर्य मुखौटे, रंगमंच सामग्री, वस्त्रसज्जा तथा कुछ उपकरण जिनको 'पुस्त' संज्ञा में समाहित किया गया है। इसके अलावा, वास्तुकला के तहत नाट्यगृहों के निर्माण का सिद्धांत रखा गया है। किंतु दृश्यविन्यास, दृश्यबंध, नेपथ्य की जो आज की हमारी परिकल्पना है, उसका विधान नाट्यशास्त्र में नहीं किया गया है। पर चित्रों का उल्लेख अवश्य किया गया है, जिसे नाट्यगृह की भित्ति और स्तंभों तर लगाने के निर्देश मिलते हैं।

ऐसे चित्रों को आचार्य वामन चित्रपट कहते हैं। काव्यालंकार सूत्र में

"संदर्भेषु दशरूपकम् श्रेयाः।

तद्धि चित्रं चित्रपटवद विशेष साकल्यात्॥ (काव्यालंकार सूत्र १.३.३०-३१)

तात्पर्य - चित्रपट पर निर्मित चित्र में जिस प्रकार विविध वैशिष्ट्यों का साकल्य हो जाता है, उसी प्रकार दशरूपकों में चित्रों जैसा साकल्य होता है। दशरूपकों को भी वामन ने चित्रस्वरूप माना है। आचार्य शंकुक ने मात्र रसास्वादन की प्रक्रिया को 'चित्रतुरगन्याय' अर्थात् चित्रपट विश्लेषण के माध्यम से स्पष्ट किया है। भोज ने चित्रशास्त्र और नाट्यशास्त्र में गहरा संबंध होने की बात कही है। वहीं विष्णु धर्मोत्तर पुराण रस, भाव, दृष्टि, अंग, उपांग, हस्त आदि की अवधारणाओं का संबंध चित्रों से जोड़ा है। आंगिक अभिनय में हस्तभेद, दृष्टि, पदन्यास का प्रतिफलन चित्र में भी दिखाई देता है। इतना ही नहीं रस निष्पत्ति तथा रसास्वाद को चित्रकला के संदर्भ में नाट्यशास्त्र से प्रेरणा लेकर विष्णु धर्मोत्तर पुराण ने उसका निरूपण किया है। "नाट्यशास्त्र के स्थानों, उदाहरण के तौर पर वैष्णव, समपाद, वैशाख मंडल, प्रत्यालिढ़, आलीढ़ आदि को चित्र में उन्हीं की परिभाषाओं के साथ भोज ने भी स्वीकार किया है।" विष्णु धर्मोत्तर पुराण चित्र में भी नौ रस होने की बात करता है। रस के अनुसार चित्र की संरचना का वैशिष्ट्य बतलाया है।

नाट्यशास्त्र में रंगों की अलग-अलग परिभाषाएं, परिकल्पनाएं, मान्यताएं

प्रस्तुत की गई हैं। वर्ण भेद के अनुसार रंगों का विचार भी नाट्यशास्त्र में दिखता है। साथ ही रस, भाव, वृत्ति-प्रवृत्ति का भी संबंध रंगों से दिखाई देता है। रसास्वाद की दृष्टि से गुण और दोषों का विचार चित्रकला में अवश्य अलग माना गया है। भोज ने चित्रों में ११ रस माने हैं जबकि नाट्यशास्त्र में अभिनय गुप्त के शांत रस के साथ ९ रस बताये गये हैं। किंतु "विष्णु धर्मोत्तर पुराण ने चित्र में अभिनय की स्थितियों तथा भावों की अभिव्यक्ति को सर्वोपरि माना है।" भाव ही क्यों, रस, मुद्राएं और वृत्तियाँ भी रंगों को ही अभिव्यक्त करते हैं। भरत ने जिस लोक की चर्चा की है वह 'लोक' मतलब ही विविध रंगों का समुच्चय माना जाना चाहिए। क्योंकि यही लोक अपनी भावावस्था, मनोवस्था के साथ, विविध संवादों द्वारा, विविध वृत्ति-प्रवृत्ति के साथ विविध रंगों के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। यही नाटक की भाषा है, रंगों की भाषा है, जो नाट्यकला को, रंगमंचीय कला को, दृश्यकला से जोड़ती है। नाट्यशास्त्र में दृश्यविन्यास को विन्यासन की दृष्टि से नहीं देखा गया। वहां आहार्य सामग्री वस्तुरूप है, जो सामग्री के रूप में है। किंतु आधुनिक परिप्रेक्ष्य में रस, भाव, वृत्ति-प्रवृत्ति का संबध हम दृश्यकला से जोड़कर उसे व्याख्यायित कर सकते हैं। रंगों के माध्यम से उसकी परिभाषाएं गढ़ सकते हैं। रंग की परिकल्पना को अधिक व्यापक, विस्तृत कर सकते हैं और यही कार्य आधुनिक काल में नये रंगतंत्र ने अर्थात् *'Plastic Stagecraft'* ने किया है। जिनके उद्गाता के रूप में एडाल्फ ऑप्पिया (जिनेवा) तथा एडवर्ड गार्डन क्रेग (लंडन) का नाम लिया जाता है।

आधुनिक रंगतंत्र में दृश्यविन्यास का प्रारम्भ इतालियन पुनर्जागरण काल से होता है। इसके पूर्व केवल स्थलदर्शक चित्रपट अर्थात परदे नेपथ्य में लगाये जाते थे। महल, उद्यान, रास्ते, पर्वत, नदी, मंदिर आदी स्थलों के सुंदर चित्रांकन हुआ करते थे। किंतु इटालियन पुनर्जागरण काल में फिलिप्पो बुनोलेश्ची (१३७७-१४४६) ने अवकाश *(Space)* तथा अंतर *(Distance)* के आभास को गणितीय पद्धति से निर्माण करने की कोशिश की। उसके बाद लियॉन बॅस्टीस्ट (१४०४-१४७४) ने भौमितिक पद्धति से *(Geometric Perspective of Liniear perspective)* दृश्यविन्यास को बनाने का प्रयत्न किया। विश्व में पहली बार पेलेगिनो दसान डैनियल (१४६७-१६५४) ने राजमहल में, प्रेक्षागृह में दृश्यविन्यास की रचना तथा विन्यास की परिकल्पनाओं को साकार किया। जिसमें आज के प्रचलित विंगों का निर्माण किया गया था। गिवॅन बॅटिस्टा

ॲलेट्टी (१५४६-१६३६) ने पहली बार 'फ्लॅटस' को प्रयोग में लाया। तथा निकोला सैबेस्टिनी (१५७४-१६५४) ने रंगतंत्र की व्यावहारिक कृति संहिता तथा आचार संहिता *Practical stage craft manual* अर्थात् *Manual for constructing Theatrical scens and Machiens* और उपयुक्त यंत्र तथा उपकरणों का भी निर्माण किया। इतालवी पुनर्जागरण काल ने आधुनिक रंगतंत्र तथा दृश्यविन्यास के बीज बोये।

इग्लैंड में पहली बार इनगो जोन्स (१५७३-१६५२) ने 'प्रोसिनियम आर्च' (कमानी रंगमंच) को जन्म दिया। इतालवी 'पर्सपेक्टिव सिनेरी की परिकल्पनाओं को अधिक विकसित किया। र्लियो तथा एलेट्टी के 'विंग्ज' तथा 'फ्लैट' का भी आधुनिकीकरण किया। एम.एम.ई. वेस्ट्रीय (१७९७-१८५६) ने 'बॉक्स सेट' को संबोधित किया। इसके पूर्व बॉक्स सेट का काम 'विंग्ज' को 'फ्लैट' जैसा प्रयोग में लाकर चलाया जाता था। तद्पश्चात आलेक्झांड्रा एक्स्टर (१९२५), लियोन बक्स्ट, कान्सटंटस्टाईन कोरोविन आदि रंगतंत्रकारों ने रंगतंत्र और दृश्यविन्यास को नये-नये परिणाम प्रदान करने के प्रयत्न किये। लेकिन एडाल्फ ॲप्पिया तथा एडवर्ड गार्डन क्रेग ने इस क्षेत्र में एक नये युग का सूत्रपात किया है। परम्परागत रंगतंत्र की मान्यताओं को नकार कर नये इतिहास की स्थापना की।

दृश्यात्मक *(Visual Art)* कला की क्षमताओं का सम्पूर्ण उपयोग एडोल्फ ऑप्पिया ने रंगमंच पर किया। रंग, रेखा, आकार तथा प्रकाश *(Colour, Lines, Form and Light)* के माध्यम से रंगमंच की एक नई दृश्य भाषा *(Visual Language)* रची है। "रंगमंचीय दृश्यात्मकता केवल दर्शनीय ही नहीं, सुंदर ही नहीं, बल्कि कथ्य को समृद्ध बनाती हैं।" यह ऑप्पिया का विश्वास था। इसीलिए उन्होंने रचना *(Composition)*, मिति *(Dimention)*, गतिविधियाँ *(Moments)*, रेखाएं *(Lines)*, प्रकाश *(Light)*, रंग *(Colour)*, बुनावट *(Texture)* आदि विन्यासन के मूलतत्व, रंगसंगति *(Harmony)*, विरोधाभास *(Contrast)* तथा विविधता *(Variations)* आदि रचना की इकाइयों का दृश्यभाषा *(Visual Language)* के निर्माण हेतु प्रयोग किया। चित्रकला का भी नयी परिकल्पना के साथ उपयोग किया। यथार्थवादी दृश्य विन्यासन पद्धति को नकार, प्रतीकवादी *(Symbolic)*, अभिव्यक्तिवादी *(Expressionist)* तथा विधायक या संरचनावादी *(Constractvist)* शैलियों का प्रयोग कर अमूर्त दृश्य विन्यास पद्धति *(Abstract Scence Design*

System) का निर्माण किया। साथ ही दृश्यकलाओं की सीमाओं का विस्तार किया। रंग, प्रकाश तथा आकृति के साथ नये प्रयोग किये। चित्र, प्रतिमा, भाव, मनोवस्था, देहबोली, देहभाषा के साथ आंतरित स्वत्व *(Internal self)*, अंतरंग सच्चाई *(Internal Truth)* तथा अंतर मन *(Inner Heart)* को भी, सत्व *(Essence)* के साथ प्रदर्शित किया।

यहाँ मैं नाट्यशास्त्र में वर्णित रस, भाव, वृत्ति-प्रवृत्ति, प्रतिमा तथा आशय को ऑप्पिया की रंगदृष्टि से जोड़ना चाहता हूँ। उसकी दृष्टि में संगीत भी एक महत्वपूर्ण तत्व है, जो इस प्रभाव को दुगना करते हैं। साथ ही प्रकाश तत्व को भी ऑप्पिया ने अपने दृश्यविन्यासन में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान दिया है। इन सारे माध्यमों को वह त्रिमितीय *(Three Diamention)* शैली में अभिव्यक्त करता है। जिसमें प्रकाश के संघटीकरण *(Orchetrisation)* अर्थात् ऑर्केस्ट्राइज़ेशन को महत्व देते हैं, जिससे रंगमंच पर चैतन्य का निर्माण होता है। *"Scenery in the Best Sence is the light and plastic elements which by surrounding a living and active presence on the stage adds to its vitality"* इस चैतन्य के साथ दृश्यात्मक शिल्प की एकता भी ऑप्पिया कायम रखते हैं। अपने दृश्यविन्यास में उन्होंने प्रकाश भाषा *(Language of Light)* को अपना हथियार माना है। प्रकाश का सर्जनशील उपयोग कर रस, भाव को, वृत्ति-प्रवृत्ति को अभिव्यक्त किया है। प्रतीक (बिंब), प्रतिमाएं आदि के माध्यम से कथ्य का अमूर्तिकरण *(Abstract)* कर दर्शकों की आस्वाद प्रक्रिया में 'कोडिंग-डिकोडिंग' के सौंदर्यशास्त्रीय तत्व शामिल किये। कला स्वाद को एक नाट्यात्मक पर्यावरण प्रदान किया। दृश्यतत्व, रंगतत्वों से नाट्यात्मक तत्वों का निर्माण किया।

ऑप्पिया ने अपने दृश्य विन्यासन में सीढ़ियाँ *(Steps)*, स्तंभ *(Coloums)*, रैंप्स, लेवल्स, प्लेटफार्म्स का भूमितीय प्रयोग कर त्रिमितिय रचना का निर्माण किया। प्रकाश आलोकन से त्रिमितीय प्रभाव का निर्माण किया। उसमें रंगों की तथा प्रकाश के विविध स्थित्यंतरों की योजना की। उनके दृश्य विन्यासन में प्रकाश निर्देशकीय भूमिका अदा करते हैं। साथ ही एक चरित्र का भी वहन प्रकाश करता है, जिससे दृश्यकला की एक नई उपलब्धि ऑप्पिया प्रदान करते हैं, जिसे वह अभिनेता का विस्तार *(Extention of Actor)* मानते हैं।

रंगमंच पर स्थल विशेष के निर्माण के बजाए उपयुक्त वातावरण की निर्मिति को वे महत्वपूर्ण मानते हैं। वे कहते हैं - *"We need not try to Represent*

a Forest, what we must give the spectator is, man in the atmosphere of forest." दृश्यात्मक कलाओं को ऑप्पिया की यह भूमिका एक नया धरातल प्रदान करती है। उसे व्यापक, विस्तृत बनाती है। साथ में नाट्यकला तथा दृश्य कला के अंतरसबंधों की नई परिभाषा *(Defination)*, नई परिकल्पना *(Concept)* भी रचती है। चित्रकला के महत्व को भी यह भूमिका एक नया परिमाण और प्रमाण *(Measures and Certifictaion)* भी प्रदान करती है। पेंटेड कैनवास, द्विमितीय रचना की क्षमता, यथार्थवादी रचना तथा चित्रण, बोधवादी रचनातंत्र के प्रति ऑप्पिया का यह विद्रोह है। रंग, रेखा, आकृति तथा प्रकाश का यह नवनिर्माण है। संगीत जैसे प्रकाश तत्व का यह ऑरर्केस्ट्रेशन है। प्रतीकवाद, अभिव्यक्तिवाद, विधायकवाद की विशेषताएं लेकर एक नयी दृश्यात्मक कला तकनीक का यह निर्माण है।

अवकाश, घनता, तीव्रता, मिति, प्रकाश, रंग, लय, ताल, पोश्चर, गेश्चर, बुनावट *(Texture)*, गति, गतिविधियाँ, देहभाषा, प्रतिक, प्रतीमाएं, विविध कोण *(Angle)*, छटा, छाया *(Shades)*, संगीत, चैतन्य *(Vitality)* आदि माध्यम से दृश्यात्मक प्रत्यय *(Visual Expression)* निर्माण करने का प्रयास रंगमंच के संदर्भ में ऑप्पिया ने किया है। *"Scenery should be the visual expression of Dynamic spirit of the play in all that comes before eyes"* ऑप्पिया के समकालीन गार्डन क्रेग ने ऐसे दृश्य विन्यासन में एडाल्फ ऑप्पिया का युगसाक्षी योगदान माना है। दृश्यात्मक शिल्प *(Visual Form)* यह ऑप्पिया का दृश्यविन्यासन, केवल एक सज्जा नहीं है बल्कि विचार, भावनाएं, अभिव्यक्ति दर्शन और सौंदर्यबोध की प्रक्रिया होती है। ''छाया-प्रकाश और रंगों से बनी एक डिज़ाईन विविध सुरों से सजी संगीत की रचना जैसी ही अर्थ - गर्भ तथा काव्यात्मक हो सकती है; मनुष्य के अंतर्मन को प्रभावित करने का सामर्थ्य उसमें होता है।''

ऑप्पिया ने संगीत, काव्य को छाया, प्रकाश और रंगों से जोड़कर रस, भाव को अभिव्यक्त किया। उसने दर्शकों पर पड़नेवाले प्रभाव को भी महत्वपूर्ण माना। ऑप्पिया प्रकाश को ऊर्जा का स्त्रोत मानते थे। प्रकाश परावर्तन *(Reflection)*, अपवर्तन *(Reprection)*, तथा ग्रहण *(Absorption)* के तत्वों को उन्होंने सार्थक भाषा प्रदान की। न्यूटन के रंगचक्र का *(Colour wheel)* सम्पूर्ण तथा सक्षमता से प्रयोग किया। प्रकाश तथा रंगों के माध्यम से प्रतीकों का नया संसार ऑप्पिया ने रचा। मनोवैज्ञानिक परिकल्पनाएं उसमें

जोड़कर दर्शकों की आस्वाद प्रक्रिया को चुनौती दी और दृश्यविन्यासन *(Visual Form)* के नये-नये प्रयोग कर दृश्यविन्यासन के सभी आधुनिक सकारात्मक तत्वों को दर्शकों के समक्ष रखा। *"The compostion of a stage setting is expected to bring a unity to overall arrengements of visual form"* नाट्यप्रस्तुति में वे दृश्यविन्यासन की, एकता को एकात्मता को महत्व देते हैं। रंग, रेखाएं, आकृतियाँ तथा प्रकाश को आपस में घोलकर उसके प्रभावों की तरंगें दर्शकों तक पहुंचाना वे आवश्यक मानते थे। यह प्रक्रिया प्रतीकों द्वारा प्रारंभ होकर अमूर्तीकरण की ओर जाती है। जहाँ दर्शक उस प्रभाव को महसूस कर सके, अर्थात इस प्रक्रिया से रसानिष्पति, भाव-निष्पत्ति की ओर ही ऑप्पिया ले जाते हैं। दृष्यात्मक कला से नाट्यतत्व को अधिक प्रभावी रूप से उभारना, सौंदर्यबोध कराना ऑप्पिया का उद्देश्य होता था। ऑप्पिया ने रस, वृत्तियों का उल्लेख नहीं किया हैं, किंतु भाव *(emotion)* को उन्होंने महत्वपूर्ण माना है। उसके तहत रस, सौंदर्य बोध आदि चर्चा की है। जिस नाट्यात्मक प्रभाव तथा अभिनेता के अंतर्मन की बात ऑप्पिया करते हैं, उसमें रस तथा वृत्ति के साथ भाव को दर्शकों के दिल में उतरनेवाला अनुभव कहा है।

ऑप्पिया ने अपनी परिकल्पना में अभिनेता, उसका शरीर, उसकी मुद्राएं, उसका गति-संचालन, लय, ताल को संगीत-प्रकाश से जोड़कर अवकाश को व्यापने की प्रक्रिया में दृश्यात्मक कला के तत्वों का भरपूर उपयोग किया है। अमूर्तिकरण की संश्लिष्ट प्रक्रिया को ऑप्पिया महत्वपूर्ण मानते हैं, जो प्रक्रिया अभिनेता के दृश्यविन्यासन को भी दर्शकों से जोड़ती है। रंगों का खेल, प्रकाश-अंधकार का खेल, छायाओं का खेल, संगीत की धुनों का खेल, विविध आकृतियों का खेल, आदि खेल खेलकर ऑप्पिया रंगमंच के अवकाश को एक नये बोध के, प्रभाव के साथ भर देते हैं। जो दर्शकों को रसों एवं भावों से विभोर कर देता है। तात्पर्य ऑप्पिया रंग *(Colour)*, रेखाएं *(Lines)*, प्रकाश *(Light)*, और आकृति *(Form)* के माध्यम से रसोत्पत्ति करते हैं और यही नाट्यकला *(Dramatic Art)*, दृश्यात्मक कला *(Visual Art)* के रूप में बार-बार जन्म लेती है।

■■■

पुराणों में नाट्यकला

भारत का नाट्यशास्त्र काव्य, कला एवं संस्कृति का एक बृहद विश्वकोष है। इसका रचनाकाल इ.पू. २०० से ईसा २०० तक बताया जाता है। विद्वानों के अनुसार नाट्यशास्त्र एक संग्रह ग्रंथ हे, जिसकी रचना भरत नाम कपोलपजीवी जाति अथवा गण समाज द्वारा की गई है। नाट्यशास्त्र के कुल ग्यारह (नाट्य एकादश) संग्रह है। जिसमें १) रस २) भाव ३) अभिनय ४) धर्मी ५) वृत्ति, ६) प्रवृत्ति ७) सिद्धि ८) स्वर ९) आतोद्य १०) गान ११) रंग आदि विषयों का समावेश है। मूलतः इसका नाट्यशास्त्र के ३६ अध्यायों में की गई है। नाट्यशास्त्र के अधिकृत पाठों में कारिका/श्लोक आदि की संख्या छह हजार बताई गई है। नाट्यशास्त्र ने भारतीय नाट्यकला को नाट्यशास्त्र के रूप में स्थापित किया है। साथ ही भारतीय कला चिंतन की परम्परा का भी सूत्रपात किया है। भरत का नाट्यशास्त्र शैव परम्परा का नाट्यशास्त्र है। जिसका प्रभाव नाट्यशास्त्रीय संरचना में देखा जा सकता है। 'नटराज' इस प्रभाव का सर्वोत्तम उदाहरण है साथ ही आचार्य नांदिकेश्वर का वह श्लोक भी जिसमें चतुर्विध अभिनय का स्पष्ट उल्लेख किया गया है -

आंगिकम् भुवनम यस्य
वाचिकम् सर्व वाङ्मय
आहार्य चंद्र तारादि
ंतंनु मः सात्विक शिवं्॥

इस श्लोक में शिव को अधिष्ठान के रूप में स्थापित किया है। नृत्य, रेचक, अंगहार, रस, वृत्ति का जनकत्व, अमृत मंथन, त्रिपूरदाह का नायकत्व नाट्योत्पत्ति की कथा में शिव की अनिवार्य उपस्थिति देखी जा सकती है। आचार्य नरहर कुरुंदकर भी भरत के नाट्यशास्त्र को शैव परम्परा शास्त्र मानते हैं। आचार्य पद्माकर दादेगांवकर भी शैव दर्शन, चिंतन की अभिव्यक्ति मानते हैं।

पुराणों में नाट्यकला

विष्णू धर्मोत्तर पुराण, अग्निपुराण, हरिवंश पुराण, भगवत् पुराणे, मार्कंडेय पुराण में नाट्यकला का वर्णन तथा संदर्भ विशेष रूप से प्राप्त होते हैं। प्रचलित रूप में पुराणों को धर्मग्रंथ भी माना जाता है। कुछ रचनाकार इसे वेद सदृश्य भी कहते हैं। बलदेव उपाध्याय इन पुराणों को भारतीय संस्कृति का मेरुदंड मानते हैं। पुराणों का स्वरूप भी विश्वकोषात्मक माना गया है। कुछ विद्वान उसे सभ्यता, संस्कृति का

विश्वकोष कहते हैं। कुछ अध्येता उसे भारतीय कला दृष्टि का प्रतिनिधिक दृष्टांत पाठ का दर्जा देते हैं। नाट्य लक्षण ग्रंथ के रूप में भी उपरोक्त पुराणों का उल्लेख किया जाता है।

विष्णु धर्मोत्तर पुराण

विष्णु धर्मोत्तर पुराण के कुल तीन खंड है। जिसमें तृतीय खंड में नाट्यकला विषयक सामग्री संग्रहित की गई है। साथ ही महाकाव्यों के लक्षणों की भी चर्चा इस पुराण में है। इस खंड में कुल ३५५ अध्याय है। इसे उत्तर गुप्त काल की रचना मानी जाती है। ईसा ४००-५०० वर्षों के बीच इसे संग्रहित किया गया है। इसका स्वरूप भी विश्वकोषात्मक है। जिसमें भारतीय कलाओं के विविध स्वरूप का वर्णन किया गया है। नाट्य, नृत्य, वाद्यवादन, गायन, संगीत तथा चित्रकला से संबंधित सामग्री इसमें उपस्थित हैं। चित्रसूत्र, आतोद्य, नृत्यशास्त्र, गीतशास्त्र संस्कृत प्राकृत तथा अपभ्रंश गीतों के भेदाभेद की चर्चा इसमें है। मार्कंडेय इस पुराण के वक्ता है। राजा वज्र के रूप में प्रश्नकर्ता एवं श्रोता यहां उपस्थित हैं। प्रश्नोत्तर रूपी संवाद में यह पुराण वर्णित है। 'स्टडिज इन उप-पुराणाज' अपने इस पुस्तक में प्रो. हाजरा ने इस पुराण को नानाविध विधाओं का ज्ञानात्मक कलानुशासनों का आधारभूत ग्रंथ तथा अप्रतिम विश्वकोष भी कहा है।

विष्णु धर्मोत्तर पुराण में नाट्यकला से संबंधित नाट्य, नृत्य, नृत्यशास्त्र, वाद्यवादन, आतोद्य, गीतशास्त्र (गायन/संगीत), संस्कृत-प्राकृत व अपभ्रंश गीतों के भेदाभेद, चित्रकला-चित्रसूत्र, प्रतिष्ठा शास्त्र, भूमिदान-भूमि परीक्षण, भूमि शोषण, सूत्रन्यास, वास्तुशास्त्र, इंद्रध्वज विधान, कामशास्त्र, छंद, काव्य, वास्तु का वर्णन, साहित्यशास्त्र, छंदशास्त्र, काव्यशास्त्र आदि विषयों को शामिल किया गया है। भरत नाट्यशास्त्र में वर्णित मधू-कैटभ असूर युद्ध, पुरूरवा-उर्वशी की प्रेमकथा, विरोचन, विरुपाक्ष प्रकरण, कुम्भ-निकुम्भ प्रकरण, अमृत मंथन की कथा, शैलूष वंश, गंधर्व आदि विषय भी इस पुराण में है। आहार्य अभिनय से संबंधित दारुपरि क्षणाध्याय (षड़दारूक) का वर्णन भी यहां उपस्थित है। कुल मिलाकर 'नाट्यशास्त्रादि साहित्य का सारतत्व हमें यहां देखने को मिलता है। अर्थात पुराणों में नाट्यशास्त्र साररूप में विद्यमान है।

कई संदर्भों में विष्णु धर्मोत्तर पुराण नाट्यशास्त्र का अनुकरण करता है तो कहीं स्थान अपना निर्वचन तथा सामग्री अपने कालानुरूप प्रस्तुत करता है। नाट्यशास्त्र के प्रेक्षागृह लक्षण नामक द्वितीय अध्याय में ब्राह्मणों को दिए जाने वाली दान-दक्षिणा, भोजन आदि की वही विधि यहां भी बताई गई है। चूंकी है धर्मकोश तो व्रत, विधी, पूजा, ईशस्तवन आदि कर्मकांड का वर्णन यहां प्रचूर मात्रा में है। चातुर्वण्य प्रणित

व्यवस्था भी यहां वर्ण और भाषा के परिप्रेक्ष्य में दिखाई देती है। वेदनिंदक, शुद्र, नास्तिक, असूर, म्लेच्छ आदि का नाट्यशास्त्र जैसा निषेध विष्णु धर्मोत्तर पुराण में उपलब्ध है। कुल मिलाकर विष्णु धर्मोत्तर पुराण में नाट्यकला की स्थापन वैष्णव परम्परा, वैष्णव चिंतन के, वैष्णव दर्शन के अनुरूप ही गई है, जबकि नाट्यशास्त्र शैव परम्परा का आगम नाट्यसंग्रह है।

अग्निपुराण :

सामान्यतः अग्निपुराण का संग्रह काल ईसा ८०० के आसपास बताया जाता है। इसे महापुराण भी कहा जाता है। विष्णु धर्मोत्तर पुराण की तरह यह भी एक नाट्यलक्षण ग्रंथ है। भगवान अग्निलेख ने महर्षि वशिष्ठ को यह पुराण सुनाया था। जिसका संकलन-संपादन महर्षि वेद व्यास द्वारा किया गया है। इस पुराण में कुल ३८३ अध्याय है। अध्याय ३३७-३४७ तक इस पुराण में काव्यशास्त्रीय सामग्री का विवरण प्राप्त होता है। नाट्यकला से संबंधित जो विषय इस पुराण में है, वे नाट्यशास्त्र से साम्य रखते हैं। नाटक, श्रृंगार रस, नायक-नायिका भेद, रीति, वृत्ति निरुपण, नृत्य, चतुर्विध अभिनय, छंद, काव्य लक्षण अभिनय, अलंकार, रूपक, रस आदि नाट्यकला से संबंधित विषयों की अग्निपुराण पुराणोक्त शैली से वर्णन करता है।

अध्यायों के आधार पर नाटक से संबंधित विषयों की निम्नानुसार श्रेणी रखी गई है। अध्याय ३३७ काव्य लक्षण, ३३८ में दशरूपक, उपरूपक, नाटकीय सामग्री, प्रस्तावना, प्रकृति, प्रवृत्ति, संधि तथा श्रेष्ठ नाटक के गुण, ३३९ में रस चर्चा, भाव, विभाव, नायक-नायिका भेद, ३४० में रीति, वृत्ति (भारती, सात्वती, कैशिकी, आरभटी) रीतियों में पांचाली, गौडी, वैदर्भी, लाटी आदि का निरुपण है। ३४१ में नायिका वर्णन, हाव-भाव, अंग-प्रत्यंग कर्म, नृत्यकला तथा अंगों का संचालन, ३४२ में आंगिक, वाचिक, सात्विक, आहार्य अभिनय, रसचर्चा, लक्षण भेद तथा अलंकार की चर्चा की गई है। इसके अलावा भरतकृत नांदी, सूत्रधार की स्थापना, इतिवृत्त, छंद, (अध्याय ३२८) का विवेचन भी अग्निपुराण में मिलता है। कुल मिलाकर नाट्यकला के अलावा इसमें अनेक विद्याओं, कलाओं और शास्त्रों का निचोड़ प्रस्तुत किया गया है। उपलब्ध श्लोकों की संख्या लगभग ११,५०० है। यह पुराण भी वैष्णव परम्परा का पुराण है। इसलिए यहां भी केंद्र में विष्णु है जैसे विष्णु धर्मोत्तर पुराण में है।

अग्निपुराण में नाट्यकला का विचार काव्य शास्त्र के परिप्रेक्ष्य में किया गया है। इसलिए अग्निपुराण में वर्णित विषय काव्यशास्त्रीय दृष्टि से निरूपित किये गये है।

किंतु नाट्यशास्त्रीय तत्वों को अनदेखा नहीं किया गया है। निरुपण की भिन्नता स्पष्ट होते हुए भी यह पुराण शास्त्रीयता के स्तर पर नाट्यशास्त्र का अनुसरण करता है। रस विचार, भाव, वृत्ति विचार, अलंकार, कारिकाएं, रूपक भेद, प्रहसन के भेद, उपरूपक भेद, नांदी लक्षण, नांदीपाठ, सूत्रधार की स्थापना, इतिवृत्त नायिका वर्णन, अभिनय, वृत्तियां आदि का विवेचन नाट्यशास्त्रीय परम्परा का सम्पादन कर अपनी व्याख्या अग्निपुराण प्रस्तुत करता है। वही नाट्यशास्त्र के संदर्भ में कई विसंगतियां भी इस पुराण में देखी जा सकती है।

नाट्यशास्त्र - विष्णु धर्मोत्तर पुराण तथा अग्निपुराण का विवेचनात्मक अध्ययन

यास्क ने 'पुरा नवं करोति इति पुराणम्' अर्थात प्राचीन कथाओं को नवीन पद्धति से प्रस्तुत करने की बात पुराण की व्याख्या करते हुए की है। इस व्याख्या के आलोक में दोनों पुराणों में वर्णित नाट्यकला मात्र नाट्यशास्त्र की नकल नहीं है। नाट्यशास्त्र की विवेचन अपने दृष्टि से की है। नाट्यशास्त्र नाटक को शास्त्र के रूप में देखता है वही पुराण इसे कला विधि के रूप में देखता है। हिंदी नाट्यशास्त्र के संपादक, भाष्यकार श्री बाबूलाल शुक्ल शास्त्री कहते हैं, "विधि सदा अवश्यानुष्ठेय होती है, तथा उसमें तर्क का प्रवेश कम ही रहता है किंतु शास्त्र में उहापोह, यथा तर्क का अधिक प्रसार हो सकता है, क्योंकि उसमें शंका समाधान की पर्याप्त गुंजाईश होती है। और इससे बौद्धिक विवरण का पर्याप्त आधार मिल जाता है।" (पृष्ठ ६५-६६) अर्थात यहां पुराणों की नाट्यशास्त्रीय मर्यादा को वे अधोरेखांकित करते हैं। नाट्यशास्त्र नाट्यकला को शास्त्र के रूप में देखता है और शास्त्र की कसौटी पर स्थापित भी करता है। नाट्यशास्त्र रंग ज्ञान को महत्व देता है वही पुराण उसके आस्था, विधी और आराध्य तत्व को महत्व देता है। पुराणों की रस कल्पना काव्य शास्त्रीय है वही नाट्यशास्त्र की रस कल्पना विशुद्ध रूप से रस शास्त्रीय नाट्यशास्त्रीय, कलाशास्त्रीय है। आचार्य पद्माकर गोवईकर अपने 'रसचर्चा' ग्रंथ में कहते हैं, "भारत की रस व्यवस्था शुद्ध रूप से शास्त्रीय, तंत्रशुद्ध तथा प्रगतिशील है।" (पृष्ठ ६) इसी आधार पर नाट्यशास्त्र और पुराणों का शास्त्र के प्रति उपस्थित दृष्टिभेद स्पष्ट होता है।

यहां रसचर्चा के विशेष परिप्रेक्ष्य में चर्चा की जाए तो निश्चित तौर पर यह कहा जा सकता है की नाट्यशास्त्र की रसचर्चा पुराणों में वर्णित रसचर्चा से अधिक सम्पृक्त, समृद्ध तथा व्यापक है। नाट्यशास्त्र के षष्ठम तथा सप्तम अध्याय में भरत ने रस की सविस्तार चर्चा की है। रस के संदर्भ में उपस्थित मुनि द्वारा पूछे गए प्रश्न का स्वरूप देख कर इस चर्चा की गहनता को समझा जा सकता है। वे प्रश्न इस

प्रकार हैं -

१) रस क्या है तथा रसत्व के कारण कौन हैं?

२) भाव क्या है तथा वे किस वस्तु का भावन करते हैं?

३) संग्रह क्या है, उसका स्वरूप कैसा है?

४) कारिका क्या है, उसका स्वरूप कैसा है?

५) निरूक्त क्या है, उसका स्वरूप कैसा है?

संग्रह, कारिका तथा निरूक्त का स्वरूप रस के संदर्भ में पूछा गया है। श्री बाबूलाल शुक्ल शास्त्री कहते हैं, भारत प्रोक्त सिद्धांत भारतीय, साहित्य, कला एवं समीक्षा शास्त्र को एक अमूल्य देन है। (पृष्ठ ६६) वही पाश्चात्य विद्वान एक.बी. किथ का मानना है कि, ''रस भारतीय नाट्यशास्त्र का सर्वाधिक मौलिक तथा मनोहरी प्रसंग है, और यही नाटक का उद्देश्य भी है।'' (पृष्ठ ६६) पुराणों में वास्तुशास्त्र, वास्तुशिल्प की चर्चा तो है परंतु नाट्यगृह अथवा नाट्यवास्तु की चर्चा नहीं है। जबकी भारत अपने नाट्यशास्त्र में नाट्यगृह की चर्चा भी रस के परिप्रेक्ष्य में करते हैं। वे 'मध्यम विकृष्ट' नाट्यगृह को इसलिए सर्वाधिक श्रेष्ठ मानते हैं क्योंकि रस परिपोष की दृष्टि से यह नाट्यगृह सर्वोत्तम है। पुराणों में रस चर्चा तो हे परंतु रससूत्र की वहां उपस्थिति नहीं है। भरत स्वतंत्र रूप से सात्विक भावों को स्थापित करते हैं उसके विभाव-अनुभाव बताते है पर पुराणों की नाट्यकला विवेचन में सात्विक भावों के चर्चा की अभाव है।

संगीत, स्वर, वृत्ति की चर्चा, सर्ववाणिक पंचमवेद की चर्चा तथा नाट्यशास्त्र के कई अध्यायों की चर्चा पुराणों में नहीं है। नाट्यधर्मी-लोकधर्मी की उपस्थिति भी इन पुराणों में नहीं है। किंतु भरत नाट्यशास्त्र में आठ रसों की चर्चा करते हैं वहीं पुराण नौ रस, सतरा अलंकार, बारह रूपक से नाट्यशास्त्र का विस्तार भी करते हैं। अभिनय में रस और भाव को ये पुराण आश्रय की संज्ञा देते हैं। आंगिक अभिनय को अंगाश्रय, वाचिक को वागाश्रय, सात्विक को सत्वाश्रय तथा आहार्य अभिनय को आहरणाश्ररु कहा गया है। अग्निपुराण अभिनय की परिकल्पना को आश्रय की दृष्टि से स्थापित करता है। पुराण रसों से भावाभिव्यक्ति का निर्धारण करते हैं तो भरत का नाट्यशास्त्र भावों से रसों की अभिव्यक्ति का सिद्धांत निरूपित करता है। अग्निपुराण में करूण रस का वर्णन संक्षिप्त है तो अद्‌भुत रस का वर्णन ही नहीं है। 'लोक' की कल्पना के संदर्भ में विष्णु धर्मोत्तर एवं अग्निपुराण अधिक व्यापकत्व धारण करते हैं। अर्थात यह स्थापना विष्णु लोक के परिप्रेक्ष्य में रखी गई है। श्रीकृष्ण जुगनू के अनुसार, ''धर्मशास्त्रों के समानांतर पुराण का अपना वर्चस्व रहा

है और उनको लोक का सबसे बड़ा प्रमाण भी सिद्ध किया गया है। '' आगे वे कहते है' '' पुराणों की पृष्ठभूमि श्लोक के रूप में लोक की बुनियाद पर आधारित रही है। जन-जीवन के लिए परचरित प्रमाण के रूप में 'लोकेच वेदे' आदर्श वाक्य रहा है। विष्णु धर्मोत्तर पुराण में लोकालोक पर्वत, लोकपाल के साथ लोक को उद्धत किया गया है। लोक पुराणों के लिए जहां भौगोलिक सीमाओं में व्याप्त है, वहीं प्रकृति, ईश्वर, देवलोक के संदर्भ में वे विष्णु को लोकनाथ की उपाधि देते है। नाटक कला को वे लोकविधान भी कहते हैं, लोक कल्याणकारी भी कहते हैं किंतु इसी लोक में बसे सेंधन, म्लेच्छ, वेदनिंदक, असूर, निशाचार, नास्तिक, पाषंड आदि का निषेध करते है, उनके निर्दालन की भी बात करते हैं। वर्णभेद का पुराणों का दृष्टिकोण भी यहां स्पष्ट होता है। वे त्रिवर्ण-त्रिवर्ग की बात करते ही खास तौर पर अग्निपुराण केवल त्रिवर्ग के कल्याण की बात करता है। भरत का लोक लोक स्वभाव सिद्ध है, लोकयात्रानुगामी तथा तथा लोकमंगलकारी ही भरत का लोकतत्व मानुषी है। इसलिए भरत लोकव्यवहार का जडवादी पक्ष प्रस्तुत करते हैं और पुराण अध्यात्मवादी पक्ष का वर्णन करता है।

कला के संदर्भ में विष्णु धर्मोत्तर पुराण विष्णू की स्थापना रस, प्रवृत्ति, वृत्ति के संदर्भ में करता है। अग्निपुराण भी वैष्णव परंपरा का पालन करता है, वही नाट्यशास्त्र शैव परंपरा का निर्वहन करता है। नाट्य शास्त्र का प्रणयन एवं निर्माण ही मूलतः शैव परम्परा से हुआ है। इस शास्त्र की कसौटी पर रचा गया है। आचार्य नरहर कुरूंदकर इसलिए इसे अधिक सुसूत्र, सविस्तार नाट्य संग्रह कहते हैं।

रसोत्पत्ति एवं धारणा का मूलभेद

अग्निपुराण ने चैतन्य को रस कहा है। रस परमात्मा के सत्वादि गुणों के विस्तार से प्रकट होते हैं, यह इस पुराण की धारणा है। ब्रह्म के सहोदर आनंद की अभिव्यक्ति को ही चैतन्य, चमत्कार तथा रस का नाम अग्निपुराण देता है। वहीं भरत नाट्यरस को 'परमानंद' कहते हैं। और रसानुभूति को सर्वाधिक महत्व देते हैं। रसचर्चा में अहं, अहम, अहंकार का विवेचन पुराणों में मिलता है। वहीं शैव परम्परा के संवाहक अभिनव भारती के लेखक रस को अलौकिक चमत्कार स्वरूप मानते हैं। 'अलौकिक चमत्कारी श्रृंगारादि को रसाः' का निरूपण कर अलौकिकत्व तथा चमत्कार की बात करते हैं। रामकंठ अपने मंगलाचरण द्वारा शिवधर्म का विशेषण 'अनुपम चमत्कार रस' के रूप में शब्दांकित करते हैं। अर्थात् नाट्यशास्त्र संप्रदाय रस को अलौकिक, अनुपम, चमत्कार के रूप में प्रतिपादित करते हैं, वहीं अग्निपुराण इसे अहं, अहंकार और चमत्कार के रूप में रखता है। और इसे

'सत्तारूप' में निर्वाचित भी किया गया है।

अग्निपुराण, विष्णू धर्मोत्तर पुराण के अलावा हरिवंश पुराण में भी नाट्यकला के कई साक्ष्य मिलते हैं। हालांकि यह जैन पुराण है जिसकी रचना आचार्य जिनदास ने की है। इस पुराण में नाटक में सांब एक विदूषक की भूमिका निभाता है, चारुदत्त-वसंतसेना की कथा, नृत्य-नाटक का अध्ययन, हल्लीसक, रास, शालिभ्य के संदर्भ मिलते हैं। वज्रनाथ की पूत्री प्रभावति को चुराने (अपहरण) से संबंधित नाटक में श्रीकृष्ण पुत्र प्रद्युमन को नायक बनने की बात इसी पुराण में कही गई है। भगवत पुराण में नाटक कलाकारों के नाम 'नट नर्तक गंधर्वाः सूतमागध वन्दिन (स्कंद-१, अध्याय-२, श्लोक-२१) इस प्रकार बताये गये है। मार्कंडेयपुराण में सम्राट शत्रूजित के पुत्र ऋतुध्वज (कुवलयाश्व) को नाटक अभियन प्रेमी कहा गया हैं। बीसवे अध्याय में -

'कदाचित काव्य संलापगीत नाटक सम्भवै
रेमे नरेंद्र पुत्रोऽसो नरेन्द्रतनयैः सह॥

इस प्रकार इसका वर्णन किया गया है। ब्रह्मवैवर्त पुराण, नारद पुराण में मां नाट्यकला के कुछ संदर्भ पाये गये है।

सभी पुराणों में नाट्यशास्त्र, नाट्यविद्या के संदर्भ हैं। किंतु नाट्यशास्त्र के प्रयोक्ता, रचयिता भरत/भरतमुनि होते हुए भी इसका श्रेय पुराणकार भरत को नहीं देते हैं। भरत को नाट्यशास्त्र सर्ववाणिक और पंचमवेद स्वरूप है, किंतु पुराण त्रिवर्ग अथवा त्रिवर्ण की बात करता है। शुद्र एवं शिल्पी का कार्य (कलाकार) केवल सेवा करना है, यह भी पुराणकार सूचित करते हैं। नाट्यविद्या की चर्चा पुराणों में विशेष रूप से नहीं बल्कि 'पुराण का एक अंग' इस रूप में की गई है जबकी नाट्यशास्त्र का मुख्य विषय ही नाट्यविद्या है। नाट्यशास्त्र के रचयिता, संग्रहकर्ता प्रत्यक्ष रंगकर्मी अथवा रंगमंच के, नाट्यविद्या के अध्येता है। सिद्धांतकार हैं, अध्ययन अध्यापनकर्ता हैं। पुराणों के रचनाकार मात्र रचयिता और संकलक हैं। इसके अलावा दोनों की नाट्यदृष्टि, भिन्न-भिन्न है। नाट्यशास्त्र की दृष्टि शास्त्र और प्रयोग की है, वहीं पुराणों की दृष्टि आराध्य ईश्वर की आराधना, आस्था का पालनपोषण, धर्म का प्रचार-प्रसार, धार्मिक जीवन दृष्टि, जीवनशैली का प्रचार-प्रसार है। इसलिए नाट्यविद्या के वर्णन में विसंगतियां पाई जाती हैं। कई बार काल प्रवाह में पुराणों में नाट्यविद्या का विस्तार, परिवर्तन भी हुआ है। कई नई धारणाएं, मान्यताएं स्थापित हुई हैं, जिसकी चर्चा करने का विनम्रतापूर्वक प्रयास इस आलेख में किया गया है।

■■■

'अभिज्ञान शाकुंतल' में प्रकृति

कविकुलगुरु कालिदास संस्कृत साहित्य के सर्वाधिक चर्चित और लोकप्रिय रचनाकार हैं। श्रृंगार एवं करूण रस में उनकी रचनाएं सृजित हुईं है। सौंदर्य पूजक, प्रकृति पूजक के रूप में उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व का आकलन करना अधिक सरल है। रघुवंशम्, कुमारसंभव, मेघदूत तथा ऋतुसंहार उनकी श्रेष्ठ काव्य कलाकृतियां हैं। अभिज्ञान शाकुंतलम्, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय उनके सर्वोत्तम तथा कालजयी नाटक हैं। इनमें अभिज्ञान शाकुंतलम् नाटक को वैश्विक स्तर पर सर्वश्रेष्ठ, सर्वोत्तम नाटक के रूप में सम्मान प्राप्त है। भारतीय पंच महाकाव्यों में रघुवंशम्, मेघदूत तथा कुमारसंभव यह तीन महाकाव्य कालिदास के पर्याय हैं। कालिदास के सभी महाकाव्यों एवं नाटकों में प्रकृति एवं पर्यावरण का अनुपम वर्णन विद्यमान है।

कालिदास गुप्त काल के महाकवि के रूप में जाने जाते हैं। सम्राट चंद्रगुप्त के नौ रत्नों में कालिदास एक रत्न थे। कवि नाटककार तथा उत्कृष्ट गायक के रूप में भी अपने काल में वे प्रसिद्ध थे। नृत्यकला, चित्रकला तथा विविध वाद्यों के भी वे ज्ञाता थे। व्याकरण शास्त्र पर उनका प्रभुत्व था। उपनिषद, ब्रह्मसूत्र, भगवद् गीता, कामसूत्र, रामायण, महाभारत, विविध पुराण तथा अनेक धर्मग्रंथों के वे मर्मज्ञ थे। कालिदास ने हमेशा सरल, सुलभ, मधुर भाषा का प्रयोग किया है। श्रृंगार एवं करूण रस की कल्पनाशीलता विस्मयकारी है। सौंदर्य का अन्वेषण, काव्य लक्षणों की परिपूर्णता, वैदर्भीय रीति का प्रयोग, प्रकृति का जीवंत चित्रण, नायिकाओं तथा प्रणय प्रसंगों का उन्नत वर्णन, ध्वनि, उपमा, अलंकार, शब्द माधुर्य उनकी रचनाओं की विशेषताएं हैं। 'सामाजिक' उनकी रचनाओं को बहुत पसंद करते थे। चंद्रगुप्त, विक्रमादित्य के वे प्राण प्रिय कवि थे। कवि जयदेव ने उन्हें 'महाकवि कुलगुरु' पदवी से सम्मानित किया है।

प्रो. ए. बी. कीथ, सर विलियम जोन्स ने इस महाकवि पर विशेष शोध कार्य किया है। जोन्स उन्हें भारतीय शेक्सपियर कहते हैं। डॉ. वा. वी. मिराशी ने १९३४ में गहन शोध एवं अध्ययन कर 'कालिदारस' नामक शोध ग्रंथ सिद्ध किया है। विलियम जोन्स तथा महाकवि गेटे ने अभिज्ञान शाकुंतल का अंग्रेजी एवं जर्मन भाषा में सर्वप्रथम अनुवाद किया है। अण्णासाहेब किर्लोस्कर ने इस नाटक का मराठी में अनुवाद किया है। 'मराठी संगीत रंगभूमी' की नींव भी कालिदास के इसी नाटक ने रखी है। हिंदी के महान नाटककार मोहन राकेश तथा सुरेंद्र वर्मा ने कवि कालिदास

के चरित्र पर 'आषाढ़ का एक दिन' तथा 'आठवा सर्ग' यह नाटक लिखें। कालिदास एक महान कवि एवं नाटककार थे। भारतीय ही नहीं अपितु वैश्विक साहित्य में उनके महाकाव्य, खंडकाव्य एवं गीतिकाव्य तथा नाटकों को श्रेष्ठ साहित्य का गौरव प्राप्त है।

कालिदास मूलतः कवि थे। उनकी काव्य कला सर्वोत्तम थी। उनके काव्य गुण अद्वितीय थे, जिसका समग्र प्रभाव उनके सभी नाटकों पर देखा जा सकता है। श्रृंगार और करूण रस का सर्वोत्तम प्रयोग उन्होंने अपने नाट्य रचना में किया है। अभिज्ञान शाकुंतल नाटक में भी उसका अधिक जीवंत प्रत्यय विद्यमान है। कालिदास मूलतः सौंदर्य पूजक, प्रकृति पूजक थे, जिसका ओतप्रोत दर्शन भी उनके सभी नाटकों में होता है। अभिज्ञान शाकुंतलम् में तुलनात्मक दृष्टि से प्रकृति वर्णन एवं सौंदर्य अभिव्यक्ति अधिक प्रभावी रूप में देखी जा सकती है। कालिदास के नाटकों में प्रकृति एक चरित्र के रूप में विद्यमान है। पर्यावरणीय *(Environmental)* एवं परिस्थितिकी *(Ecological)* चेतना का दर्शन भी कालिदास के नाटको में विशेष रूप से होता है। अपनी नाट्य रचना में वे प्रकृति से अलंकार चुनते हैं और अंत में प्रकृति को ही अलंकार बना देते हैं। संवादों में प्रकृति उपमाओं की योजना कर प्रकृति का मानवीकरण कर देते हैं। कुल मिलाकर पर्यावरणीय अनुचिंतन का एक परिदृश्य वे अपनी नाट्य रचनाओं में खड़ा करते हैं। इसीलिए कई शोधकर्ताओं ने कालिदास की रचनाओं का 'पर्यावरण विज्ञान' एवं 'परिस्थितिकी विज्ञान' की दृष्टि से अध्ययन किया है।

कालिदास के नाटकों में प्रकृति के कई लक्षण, कई तत्व यत्र-तत्र-सर्वत्र बिखरे हुए हैं। सजीवता, भव्यता, रमणीयता, गतिशीलता, वन, उपवन, पर्वत, सरिता, स्त्रोत, पुष्प, वृक्ष, लता, चंद्र, सूर्य, तारे, आकाश, पशु-पक्षी, ऋतु, वन्यजीव, वातावरण, शिखर आदि, प्रकृति का कोई ऐसा अंग नहीं है जो कालिदास के नाटकों में विद्यमान नहीं है। यहां प्रकृति केवल वस्तुरूप नहीं है बल्कि चैतन्य के रूप में भी कालिदास विशेष रूप से चित्रित करते हैं। पंचमहाभूत अथवा पंचतत्वों का बिंबात्मक दर्शन भी वे अपने नाटकों में कराते हैं। ध्वनि चित्र, शब्द चित्र के माध्यम से प्रकृति को सौंदर्यात्मक कलेवर प्रदान करते हैं। प्रकृति, पर्यावरण और अवकाश में उपस्थित ध्वनि का वर्णन भी वे प्रभावशाली पद्धति से करते हैं। निहित ध्वनि और उसके अपेक्षाकृत अर्थ का तादात्म्य यहां देखने को मिलता है। प्रकृति और पर्यावरण की समग्रता इन नाटकों में दृष्टिगोचर होती है। प्रकृति का 'सर्वमंगल', 'लोकमंगल' रूप इन नाटकों में विद्यमान है। मालविकाग्निमित्रम, विक्रमोर्वशीय, तथा अभिज्ञान शाकुंतल

नाटक मूलतः प्रेम कथाएं हैं। प्रेम प्रसंग में प्रकृति चरित्र एवं पार्श्वभूमि (नेपथ्य की भी) अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। प्रकृति श्रृंगार एवं करूण रस दोनों प्रसंगों में विद्यमान होती है। प्रकृति का सकारात्मक पक्ष कालिदास रखते हैं। इसलिए उसका मानवीकरण सरलता से होता है।

कालिदास के तीनों नाटक अभिज्ञान शाकुंतलम्, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय में प्रकृति - पर्यावरण का विपुल चित्रण है। पर्यावरण और जीवों का सह-संबंध, प्रकृति और मानव का पारस्परिक संबंध, प्रकृति की उदारता, प्रकृति का सौंदर्य एवं माधुर्य आदि का आप अनुभव ले सकते हैं। कालिदास केवल प्रकृति पूजक ही नहीं बल्कि प्रकृति के अध्येता भी हैं। भौगोलिक, प्राकृतिक, पर्यावरण, परिस्थितिकी, जलवायविक, वानस्पतिक ज्ञान का भंडार कालिदास के पास है। अंतराल-अवकाश, काल्पनिक-वास्तविक अनुभव से भी कालिदास समृद्ध हैं। प्रकृति के विश्वकोश का संचय उनके नाटकों में है। गंगा, कावेरी, सविता, मुरला, ताम्रपर्णी, लौहित्य, भागीरथी, सरयू, तमसा, मंदाकिनी, महाकोसी, गोदावरी, आदि नदियां, हिमालय, त्रिकूट, मलय, दर्दद, महेंद्र, चित्रकूट, गोवर्धन, देवगिरी, नीचगिरी, रामगिरी आदी पर्वत, मेरू, शिखर, पर्वतश्रेणियां, समुद्रीय प्रदेश, तटवर्ती प्रदेश, सरोवर, मानसरोवर, विविध झरने, प्रपात, उपत्यकाएं, पठार, नगर, जनपद, ग्राम, उद्यान, उपवन, तपोवन, सूर्यमंडल, नक्षत्र, ऋतु, वनोपच सामग्री, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, शीत, वसंत ऋतु, जल, वायु, पृथ्वी, अग्नि, आकाश, आदि पंचतत्व, भौगोलिकता की इतनी सूक्ष्मतम संज्ञाएं, अवधारणाएं कालिदास के काव्य और नाटकों में विद्यमान है। प्रकृति-पर्यावरण की समग्रता और उसकी सौंदर्यात्मक अभिव्यक्ति कालिदास के सर्जनशीलता की विशेषता है। प्रकृतिपरकता इस साहित्य का सौंदर्यविधान है, इसलिए उनके नाटकों में काव्य सौंदर्य एवं काव्यों में नाट्य सौंदर्य विद्यमान है। उनके सर्जन का धरातल ही श्रृंगार एवं करूण रस के साथ प्रकृति और पर्यावरण भी है। कालिदास निश्चित रूप से एक सजग प्रकृति पुरुष, प्रकृति उपासक हैं, और उनकी सभी नायिकाएं भी प्रकृति कन्याएं, निसर्ग कन्याएं है।

'कालिदास की रचनाएं' नामक एक शोध के द्वितीय अध्याय में लिखा गया है, "जैव-भू परिस्थिति के आधुनिक पर्यावरणीय मानदंडों के अनुरूप वर्णन कालिदास के महाकाव्य और नाटकों में मिलता है। कालिदास ने शिव की जिन अष्ट मूर्तियों (अष्ट तत्व) का विवरण प्रस्तुत किया है, उसमें समस्त जैविकाजैविक पर्यावरण के कारण समाहित है। " कालिदास द्वारा किया गया पंच तत्वों का वर्णन भी प्रकृति की समग्रता का रूप धारण करता है। जल, अग्नि, आकाश, पृथ्वी, वायु विभिन्न रूप स्वरूप एवं

चरित्र में उनके नाटकों में विद्यमान है। सृष्टि का अनन्य साधारण वर्णन कालिदास का अधिकारिक क्षेत्र है। कालिदास के काव्य और नाटकों में व्याप्त पर्यावरण सामाजिक, सांस्कृतिक, जैविकता, अजैविकता, चैतन्यरूप और मानवजन्य स्थितियों से व्याप्त है। कालिदास की कृतियों में 'पर्यावरण विज्ञान, का शोध लेते हुए डॉ. किरण चंदेल ने इन विशेषताओं को रेखांकित किया है। 'नाटककार कालिदास और काव्यकार कालिदास' इस ग्रंथ में डॉ. रमाशंकर तिवारी भी कालिदास के काव्य में उपलब्ध प्रकृति चित्रण का वर्णन करते हैं।

अभिज्ञान शाकुंतल में प्रकृति चित्रण

'अभिज्ञान शाकुंतल' कालिदास का एक सर्वोत्तम नाटक है। दुष्यंत-शकुंतला के प्रेम प्रसंग में प्रकृति-पर्यावरण को भी वे मानवीय रूप धारण कराते हैं। सोमतीर्थ की यात्रा से लौटे ऋषि कण्व जब शकुंतला को राजा दुष्यंत के यहां भेजते हैं; तब इस विदाई की बेला पर तपोवन के सभी जीव जंतू, लता समूह, मृग मयूर इस प्रकृति कन्या को, प्रकृति दूहिता को, भावभीनी विदाई देते हैं। शकुंतला और प्रकृति के इस साहचर्य का, अनुबंध का वर्णन कालिदास ने प्रभावी पद्धति से किया है। दौड़ते हुए मृग-शावक का शब्दचित्र तो अत्यंत जीवंत है। तपोवन आश्रम का वर्णन भी शाकुंतल की प्राकृतिक विशेषता का अप्रतिम उदाहरण है। कण्व आश्रम को प्रकृति पर्यावरण की सर्वोत्तम स्थली के रूप में कालिदास चित्रित करते हैं। मरीचि आश्रम भी प्रकृति सौंदर्य से संपन्न, समृद्ध है। अभिज्ञान शाकुंतल में वर्णित प्रकृति पर्यावरण से महाकवि गेटे भी काफी प्रभावित थे। वे कहते हैं, "यदि तुम तरुण वसंत के फूलों की सुगंध ग्रीष्म ऋतु के मधुर फलों का परिपाक देखना चाहते हो, जिससे अंतःकरण पुलकित सम्मोहित... आनंदित और तृप्त हो जाता है, अथवा तुम भूमि और स्वर्ग की झांकी एकत्र स्थान में देखना चाहते हो तो 'अभिज्ञान शाकुंतल' का रसपान करो।" गेटे ने अपने अनुवाद में अभिज्ञान के प्रकृति को अक्षुण्ण रखने का प्रयास किया है। दुष्यंत-शकुंतला के प्रेम प्रसंग के साथ यहां वे प्रकृति को भी इस नाटक की विशेषता मानते हैं। अपनी प्रशस्ति में गेटे ने इस नाटक को 'प्रकृति रस' का नाटक संबोधित कर उसका सविस्तार वर्णन किया है।

डॉ. रमाशंकर तिवारी ने शाकुंतल के कण्व आश्रम का वर्णन इस प्रकार किया है। संस्कृति से किया गया अनुवाद इस प्रकार है। कालिदास के सूक्ष्म प्रकृति चित्रण का यह विलोभनीय दर्शन भी है। "कहीं वृक्षों के नीचे तोतों से युक्त कोटरों के अग्रभाग गिरे हुए तिन्नीधान दिखाई पड़ रहे हैं। कहीं इंगुदी के फलों को फोड़ने वाले चिकने पत्थर दिखाई पड़ रहे हैं। कहीं विश्वस्त होने के कारण निशंक गति वाले

हरिण रथ की घरघराहर सुन रहे हैं, और कहीं जलाशयों को जाने वाले मार्ग मुनिजनों के वल्कलों के अग्रभाग से टपकने वाले जल की रेखा को चिन्हित करते हैं। " शब्दों के चित्र खड़े करने की महारत कालिदास को हासिल थी। अगला एक उदाहरण देखिए - "वायु के कारण चंचल नालियों के जल से भूली भी जड़ वाले वृक्ष हैं। हवन किए गए वृक्ष के धूएं के उठने से कोमल किसलयों कांति की ललाई बदली हुई दिखाई पड़ रही है। यह निर्भिक मृग शावक कटे हुए कुशां के अंकुरों वाली उद्यान भूमि पर, पास में ही धीरे-धीरे विचरण कर रहे हैं। " कालिदास की सूक्ष्म वर्णन शक्ति इस वर्णन से समझी जा सकती है। प्रकृति का ऐसा वर्णन जो प्रकृति की जीवंतता का आभास कराती है। आश्रम के प्रकृति पर्यावरण का यह शब्दचित्र बेहद ही सुंदर है। शाकुंतल का प्रारंभ कालिदास 'या सृष्टिः स्त्रष्टुराधा' इस शब्द से करते हैं। शिव की आराधना कर उनके अष्टमूर्ति (सृष्टि के आठ तत्वों) की प्रतिष्ठापना वे करते हैं। जिसमें जल, अग्नि, आकाश, पृथ्वी, वायु के साथ यजमान, चंद्र और सूर्य की प्रतिकात्मक अभिव्यक्ति का उच्चार करते हैं। यहां उनकी लोकमंगल की अथवा लोकमंगलकारी प्रकृति की दृष्टि भी स्पष्ट होती है। डॉ. किरण चंदेल ने अपने शोध में अभिज्ञान शाकुंतल के 'पर्यावरण विज्ञान की विस्तृत चर्चा की है।

शाकुंतल की प्रकृति तपोवन में बसी है। इस तपोवन के वृक्ष, लताएं मनुष्य रूप है। उनसे शकुंतला का स्नेह संबंध है। यह अनुराग सौंदर्यवर्धक है। वृक्षों को पानी डालती-दुलारती, उनसे संवाद करती शकुंतला पर दुष्यंत मोहित हो जाते हैं। 'प्रकृति वर्धन' और 'प्रेम वर्धन' का यह प्रसंग कालिदास ने तन्मयता से चित्रित किया है। यह कालिदास की सर्जनशीलता है। शकुंतला पेड़-पौधों, लतिका, मृग शावक आदि से सगे संबंधी जैसा प्रेम करती है। कालिदास ने इस नाटक में कई वृक्षों का भी वर्णन किया है। शमी के वृक्ष का विशेष रूप से वर्णन किया है। इस वर्णन में वे उसकी उपयोगिता भी बताते हैं। दुष्यंत की यात्रा के साथ कनखल प्रदेश, मालिनी नदी, हिमालय की तराई और वहां के प्रकृति का भी वर्णन करते हैं। नाटक का प्रारंभ भी प्रकृति के वर्णन से होता है। कालिदास ग्रीष्म ऋतु का वर्णन करते हैं। 'वन वायु के पाटन की सुगंध से मिलकर सुगंधित हो उठने और छाया में लेटते ही नींद आने लगने और दिवस का अंत रमणीय होने के द्वारा नाटक की कथावस्तु की मोटे तौर पर सूचना दी जाती है। नाटक के प्रथम गीत में ही भ्रमरों द्वारा शिरीष के फूलों को जरा-जरा सा चूमने से यह संकेत किया जाता है कि दुष्यंत और शकुंतला का मिलन भी भ्रमर फूल जैसा होगा। प्रभात और संध्याकाल का वर्णन भी कालिदास प्रभावी रूप से करते हैं। कुल मिलाकर इस नाटक में वर्णित प्रकृति श्रृंगार रस का शक्ति स्थल

है। प्रेम प्रसंग में भी प्रकृति का अबधित साहचर्य, अनुबंध है। आलंबन और उद्दिपन भाव का यह कारक है। व्यभिचारी भाव के भी यह प्रोत्साहन तत्व है। प्राकृतिक उपमाएं तो यह यत्र-तत्र सर्वत्र इस नाटक में बिखरी हुई हैं। नवपल्लव, मधु की उपमा से शकुंतला के सौंदर्य का वर्णन किया गया है। प्रकृति की १८० उपमाएं इस नाटक में कालिदास ने प्रयुक्त की है। दुष्यंत शकुंतला के सुकुमार देह का वर्णन और उसकी तुलना हरी-भरी फूलों से लदी लता के साथ करता है। कालिदास ने भ्रमर की योजना शकुंतला दुष्यंत के प्रणय प्रसंग के लिए की है। अनसूया-शकुंतला संवाद में भी फूल, पौधे, क्यारियां, वृक्ष और उनके सहोदर भाव का वर्णन कालिदास ने किया है।

नाटक के चतुर्थ अंक में वन देवता के आशीर्वचन का दृश्य है। वन्य देवता की आकाशवाणी में ''कमलीनियों से हरे-भरे सरोवरों से मार्ग का मध्य भाग मनोहर हो। घनी छाया वाले वृक्षों से सूर्य की किरणों का ताप दूर हो, इस मार्ग कमलों के पराग से कोमल धूली युक्त शांत और अनुकूल भावों से युक्त एवं कल्याणकारी हो।'' शकुंतला और प्रकृति का घनिष्ठ संबंध यहां परिलक्षित होता है। जब शकुंतला आश्रम से विदाई लेती है। तब प्रकृति को भी असह्य दुःख होता है। प्रकृति उदास हो जाती है। शकुंतला के वियोग से हिरण शावक ने कुशा को खाना छोड़ दिया है। मोरों ने नृत्य करना बंद कर दिया है। लताएं पीले पत्तों के साथ आंसू बहाती है। प्रकृति का इतना जीवंत चित्रण अन्यत्र कहीं नहीं मिलता है। प्रकृति का यह वर्णन मानवीय भावनाओं के सदृश किया गया है। मानव और प्रकृति के अटूट संबंध को भी दर्शाया गया है।

महाकवि कालिदास के इस बहुचर्चित नाटक 'अभिज्ञान शांकुतल का 'शारंगरव प्रकरण' भी प्रकृति चिंतन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रसंग है। शारंगरव के माध्यम से वृक्ष, बादल एवं नदियों की तरह हमेशा मानव जाति को परोपकारी बनने का संदेश दिया है। वृक्ष, फल स्वयं के लिए नहीं अपितु समाज के हित में अपना कार्य करते हैं। मेघ, जल, पानी, प्रकृति, मानवी कल्याण में अपनी सेवा देते हैं। प्रकृति पर्यावरण की महत्ता का वर्णन यहां कालिदास करते हैं -

भवंति नामरास्तारवः फलागमे
नर्वामबुभिर्दुरविलंबिनों धनाः।
अनद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धधिभिः
स्वभाव एवैष परोपकारीणम।

इस श्लोक का अर्थ शोधकर्ता पूनम राज इस प्रकार निर्वाचित करती हैं, ''वृक्ष फलों के आने पर नम्र हो जाते हैं। बादल नए जल से पूर्ण होने पर नीचे लटक जाते

हैं। सज्जन पुरुष समद्धि पाकर सुशील हो जाते हैं। यह परोपकारियों का स्वभाव है। प्रकृति के माध्यम से कवि कालिदास लोक कल्याण का मर्म व्यक्त करते हैं। कालिदास का प्रकृति-पर्यावरण वर्णन बहुमुखी है। उनके व्यष्टि से समष्टि की प्रक्रिया में प्रकृति विद्यमान है। श्रृंगार सौंदर्य के पर्यावरणीय तत्व के साथ सामाजिक पर्यावरण का परिप्रेक्ष्य भी कालिदास अभिव्यक्त करते हैं। अपराजिता आयुर्वेद शास्त्र के संदर्भ में सामाजिक स्वास्थ्य और वनस्पति विद्युलताओं का संबंध भी स्पष्ट करते हैं। कालिदास के इस नाटक में वर्णित प्रकृति संवेदना, चैतन्य तथा ऊर्जा के रूप में उपस्थित है। यह अद्वैत रूप में है। पुष्कर आंद भी कालिदास के प्रकृति विषयक दृष्टिकोण के साथ वन्य जीव संरक्षणपरक भूमिका पर प्रकाश डालते हैं। उनके साहित्य में वर्णित वन्यजीव प्रसंगों की चर्चा करते हैं। कालिदास के अन्य नाटकों की तरह अभिज्ञान शाकुंतल में प्रकृति कथा के साथ प्रवाहित होती दिखाई देती है। प्रकृति की गोद में नाटक फलता-फूलता है। प्रकृति का वातावरण, पर्यावरण और परिस्थितिकी मंच विन्यास के रूप में हम इस नाटक में देख सकते हैं। विन्यास के सभी तत्व कालिदास के प्रकृति वर्णन में समाहित है। नाटक का यह भी एक शक्ति स्थल है। शाकुंतल का प्रकृति चित्रण मनोहारी हे, रमणीय है, काव्यात्मक है। कालिदास की प्रकृति पूजा, सौंदर्यान्वेषी है। इसलिए वह श्रृंगार रस का परिपोष करती है, वही करूण रस को भी पुष्ट बनाती है। प्रकृति शकुंतला का सबसे बड़ा शक्ति तत्व है। सुखांत नाटक की परिकल्पना में अंततः प्रकृति लोकतत्व का रूप धारण करती है।

अभिज्ञान शाकुंतल नाटक का अवकाश प्रकृति चित्रण से व्याप्त है। यह चित्रण मात्र सौंदर्यदर्शक नहीं है, अपितु लोकल्याणकारी, लोकमंगलकारी है। मनोरंजन के साथ लोक में प्रकृति - पर्यावरण की चेतना का निर्माण करने वाला यह अद्वितीय नाटक है।

■■■

नाट्यशिक्षण - नाट्य प्रशिक्षण का निर्माणवाद

शिक्षण सीखने और जानने की दृष्टियों में बदलाव लाने हेतु रंगमंच एक अत्यंत कारगर माध्यम है। सामान्य तौर पर एक 'पेडोगोगी' *(Pedogogy)* के रूप में अन्य विद्या शाखाओं में उसका प्रयोग किया जाता है। साथ ही इसी 'पेडोगॉगी' द्वारा रंगमंच/नाटक के छात्रों को भी शिक्षण-प्रशिक्षण दिया जाता है। विश्व स्तर पर 'ड्रामा फॉर स्कूल' *(D.F.S.)*, 'ड्रामाथेरेपी कोर्स' *(D.T.C.)*, 'थिएटर पेडोगोगी' *(T.P.)*, जैसी परियोजनाएं चलाई जा रही हैं। आम बच्चों के साथ खास बच्चों के लिए, छात्रों के लिए 'ड्रामा थेरेपी' बहुत उपयोगी सिद्ध हो रही है। तात्पर्य एक 'डिवायस', 'इन्स्ट्रूमेंट', 'मीडियम', 'टूल' एक 'पद्धति' के रूप में रंगमंचीय शिक्षा पद्धति अत्यंत उपयोगी तथा प्रभावशाली सिद्ध हो रही है।

रंगमंच के छात्रों के नाट्यशिक्षण-प्रशिक्षण के संदर्भ में 'निर्माणवाद' महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है। आम तौर पर हमारे देश में नाटक की शिक्षा परंपरागत ढंग से ही दी जा रही है। सिद्धांत, पाठ्य और प्रयोग *(Theory, Text and Performance)* की सीमाओं में हमारे सारे पाठ्यक्रम बद्ध है। असल में नाट्यकला एक संमिश्र कला है। यह एक प्रदर्शनकारी कला है। हर प्रदर्शन के साथ अनुभव, अनुभूति, आकलन व्यक्ति के सापेक्ष बदलता है। दर्शकों के स्तर के अनुरूप भी उसमें परिवर्तन होते हैं। अभिनेता, निर्देशक के साथ नाटक का 'पर्सपेक्टिव' बदलता है। कुल मिलाकर नाटक का निर्माण, प्रदर्शन, आस्वाद सभी क्रियाएं लचीली और उलझी हुई होती हैं। इस प्रक्रिया में ज्ञान प्राप्त करना एक कठिन कार्य है। पर उसे 'लेबोरेटरी थिएटर' के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। प्रयोगशाला रंगमंच द्वारा शिक्षण, सीखने और जानने की दृष्टियों में बदलाव लाना निश्चित तौर पर संभव है।

ज्ञान क्या है? और ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया क्या है? असल में नाट्य शिक्षण-प्रशिक्षण की प्रक्रिया को 'व्यवहार', 'संज्ञान', 'रचना' और 'निर्माण' इन चारों वादों से समझा और समझाया जा सकता है; परंतु मैं यहा 'निर्माणवाद' के परिप्रेक्ष्य में अपनी बात रखने की कोशिश कर रहा हूं। मूलतः भरत का 'नाट्यशास्त्र' हो या फिर अरस्तु का 'पोएटिक्स', नाटक को 'प्रोडक्शन' नहीं बल्कि क्रिएशन (सृजन) मानता है। अभिनव गुप्त हो या नंदिकेश्वर नाटक को प्रतिसृष्टि के निर्माण का माध्यम मानते हैं। चूंकि नाटक एक संमिश्र कला है इसलिए वह सामूहिक कला भी है। यहां ज्ञान का क्षेत्र व्यापक, विस्तृत और गहरा भी है। 'निर्माणवाद' की मान्यताओं के अनुसार

ज्ञान का निर्माण केवल व्यक्ति द्वारा उसके परिवेश की अन्तःक्रिया से संभव नहीं है, बल्कि वह समुदाय के अन्य व्यक्तियों के साथ सक्रिय सहभागिता द्वारा ज्ञान का निर्माण करता है। अतः ज्ञान के निर्माण में संज्ञानात्मक और सामाजिक दोनों प्रक्रियाएं शामिल हैं। किंतु नाट्यविधा के संदर्भ में यह बात मुझे अधूरी लगती है। ज्ञान के निर्माण में नाट्यविधा के संदर्भ में मुझे 'व्यवहारवाद', 'संज्ञावाद' और 'रचनात्मक' ये तीनों दृष्टियां भी विशिष्ट प्रक्रिया के साथ, विशिष्ट प्रक्रिया में शामिल होती दिखाई देती हैं।

नाटक एक संमिश्र कला है और प्रयोगजीवी भी। प्रयोग अपने आप में 'परफोर्मेंस' और 'एक्सपेरिमेंट' इन दोनों शब्दों के भाव, अर्थ और क्रिया-प्रतिक्रिया को समेटे हुये है। और इसलिए दृष्टि की सीमाएं भी विस्तृत, व्यापक, गहरी होती हैं। बहरहाल, यहां मैं केवल निर्माणवाद के संदर्भ में 'लेबोरेटरी थिएटर' (प्रयोगशाला रंगमंच) की बात करूंगा। नाटक अथवा रंगमंच के शिक्षण-प्रशिक्षण में प्रदर्शन के दो वर्ग बनते हैं-

१) मानवीकी पक्ष में - नाट्यलेखन, नाट्यनिर्देशन, अभिनय तथा विन्यासन आदि क्रियाएं शामिल हैं -

२) तकनीकी पक्ष में - मंच आलोकन, मंचसज्जा, वस्त्रसज्जा, संगीत, ध्वनि संयोजन आदि क्रियाओं का समावेश है।

इन दोनों पक्षों का उपयोग नाट्यशिक्षण-प्रशिक्षण और निर्माणवाद के तहत प्रयोगशाला रंगमंच में संभव है। क्योंकि प्रयोगशाला में की गई हर कृति कई नई संभावनाओं को जन्म, पुनर्जन्म देती है और ज्ञान की सीमाएं भी वृद्धिगत करती है।

रंगमंच के इतिहास में 'प्रयोगशाला' के सर्वाधिक प्रयोग योरोप में किए गये हैं। स्तानिस्लावस्की का 'मनोशारीरिक रंगमंच', 'मेयरहोल्ड' का 'जैवतांत्रिक रंगमंच', ग्रोतोवस्की का 'पुअर थिएटर', अंतोनिया आर्तो का 'क्रूएल्टी थिएटर', 'बर्टोल्ड ब्रेख्त का 'एपिक थिएटर', रिचर्ड शेखनर का 'एनवायर्न मेंटल थिएटर', यूजिनो बार्बा का 'कम्यूनिटी थिएटर', आगस्टो बोवाल का 'ऑप्रेस्ड थिएटर' आदि सारे थिएटर लेबोरेटरी की देन है। भारत में ये प्रयास बादल सरकार (थर्ड थिएटर), हबीब तनवीर (नया थिएटर) के अलावा प्रसन्ना, रतन थिएम, प्रोबीर गुहा, मंजुल भारद्वाज ने बड़े पैमाने पर किये हैं। 'पार्टीसिपेटरी थिएटरी' तो भारत में एक प्रयोगशाला के रूप में ही स्वीकारा गया है जिसमें निर्माणवाद की परिकल्पना, परिभाषा और तत्वों के आधार पर कार्य किया गया। बादल सरकार का 'भोमा', जुलूस जैसे नाटक, वंदना खरे का 'योनीच्या मनीच्या गुजगोष्ठी', शारदा साठे का 'मुलगी झाली हो', या 'एक बार फिर गोदो', वह गंदी गली, 'वे आगे निकल गये!' जैसे नाटक 'लेबोरटरी

थिएटर', 'एज्युकेशनल थिएटर', 'इनविज़िबल थिएटर', 'रेनबो थिएटर', 'लेजिसलेटीव थिएटर', 'ऑप्रेस्ड थिएटर', 'स्टोरीटेलिंग थिएटर' आदि सारे रंगमंच लेबोरेटरी थिएटर के ही अंग हैं।

रंगमंच के क्षेत्र में 'निर्माणवाद' का उद्‌भव १९१९ में रशिया में हुआ। प्रारंभ में यह 'वाद' मंच विन्यास से 'सरंचनात्मक सिद्धान्तों' के आधार पर जुड़ा था। किंतु आगे चलकर व्यावहारिक तौर पर ये वाद रचनावाद में तब्दील हो गया। अभिनय के तौर पर इसका प्रयोग अपनी 'बायोटेक्नीक' अभिनय पद्धति और दृश्यविन्यास के लिए वास्लाव मेयरहोल्ड ने किया। मेयरहोल्ड की 'बायोटेक्नीक' शैली आज भी निर्माणवादी कला शैली में बेजोड़ मानी जाती है। 'एरोबिक्स' और 'एक्रोबेटीक्स' के साथ मेयरहोल्ड ने मानवीय शरीर के साथ नये तकनीकी परिप्रेक्ष्य में कई प्रयोग किये। आगे चलकर बर्टोल्ड ब्रेख्त ने भी इस शैली का प्रयोग किया। आगस्टो बोवाल ने सामाजिक प्रश्नों के साथ नाट्य निर्माण के कई प्रयोग किए। निर्माणवाद का एक उत्कृष्ट उदाहरण है, 'द थिएटर ऑफ द ऑप्रेस्ड'।

लेबोरेटरी थिएटर का स्वरूप एवं कार्य

'लेबोरेटरी थिएटर' में रंगमंच की विविध इकाइयों के संदर्भ में प्रयोग किये जाते हैं। उनके अर्थ, अन्वयार्थ ढूंढ़े जाते हैं। आम तौर पर यहाँ सभी कृतियाँ, टास्क सामूहिक होते हैं। अलग-अलग सिद्धांतों पर व्यावहारिक कार्य किये जाते हैं। इसमें सहभागिता के तत्व और प्रक्रिया *(Participatory Process)* को अपनाया जाता है। 'कृति, प्रक्रिया, निर्वचन' इस त्रयी को परखा-जांचा जाता है। उसके निर्वचनात्मक मूल्यों की समीक्षा की जाती है। यह सभी प्रयोग क्लासरूम्स ऑडिटोरियम, ऑल्टरनेटीव थिएटर, प्लेसेस अथवा सार्वजनिक स्थल पर कहीं भी किए जा सकते हैं। प्रयोग का सर्वप्रथम सूत्र अथवा कृति होती है 'जादूमय अगर' अर्थात् *'Magic if'* अगर ऐसा है...? अगर आप यह होते तो...? एक उपलब्ध परिस्थिति, *'given Circumstances'* में आप क्या करोगे? कैसे रिएक्ट करोगे? प्राथमिक स्तर पर यह प्रयोग अभिनय को लेकर किए जाते हैं।

'लेबोरेटरी थिएटर' में जब 'अभिनय' से संबंधित प्रयोग होते हैं, तब भरतमुनि के चतुर्दिक, चतुर्विद अभिनय, ग्रीक शैली का अभिनय, एलिजाबेथ शैली का अभिनय, स्तानिस्लावस्की के पद्धतिबद्ध अभिनय, ब्रेख्त के 'एपिक थिएटर' आदि की विभिन्न अभिनय पद्धति, शैली की चिकित्सा की जा सकती हैं। दो विरोधाभासी उदा. स्तानिस्लावस्की 'मेथड एक्टिंग' तथा ब्रेख्त की 'एलिएनेशन एक्टिंग' पद्धतियों का 'प्रॅक्टीकम' किया जाएगा। उससे प्राप्त निर्वचनों की समीक्षा अथवा विश्लेषण किया

जाएगा। इसके अलावा सर्जनशील स्तर पर 'इंप्रोवायज़ेशन' कर उसकी कृतियों से प्राप्त 'फाईडिंग्ज़' की समीक्षा की जाएगी। प्रचलित अभिनय सिद्धान्तों की तोड़-मरोड़ अथवा पुनर्रचना, पुनर्निर्माण कर नये आयामों की रचना का यह प्रयास होता है।

अपने आप में 'लेबोरेटरी थिएटर' एक 'थिएटर पेडोगोगी' है। 'पार्टनरशीप', 'पार्टीसिपेशन', सर्जनशीलता, मूल्यांकन, प्रयोगों के प्रयोग अध्ययन, समीक्षा, विश्लेषण, मल्टीपल एक्शन, उसका निर्वचन, 'क्रिटिकल इवैल्यूशन', 'फिडबैक' के साथ किए गये प्रयोगों द्वारा नयी निष्पति तक पहुँचाया जाता है। यह ज्ञान प्राप्ति का सर्जनशील, आनंददायक सामूहिक प्रयास होता है। असल में यह नये अनुभव, नयी अनुभूति, नये विचारों की एक अद्‌भुत निर्माण प्रक्रिया होती है। यहाँ 'क्रिएट' करना केवल निर्माण से नहीं बल्कि नवनिर्माण, सृजनशील निर्माण से तात्पर्य रखता है। यह प्रयोगाधिष्ठित सर्जनशीलता की अनवरत यात्रा होती है, जो 'थिएटर एज्युकेशन', रंगमंचीय शिक्षा पद्धति अथवा 'थिएटर पेडोगोगी' के अभिन्न अंग है।

इसके प्रयोग 'प्रायमरी', 'मिडिल', 'हायस्कूल' में, कनिष्ठ महाविद्यालयों, स्नातक स्तर पर केवल छात्राओं, छात्र-छात्राओं, केवल महिलाओं, व्यवसायानुरूप अलग-अलग वर्ग, ज्येष्ठ नागरिक (थर्ड एज), निरीक्षण जनसमूह, अंध-अपंग, मतिमंद, चाईल्ड लेबर, प्रिज़नर, रिमांड होम के छात्र, थर्ड तथा फोर्थ जेंडर, आदिवासियों के साथ तथा विभिन्न बस्तियों के साथ भी किए जा सकते हैं। नाट्य प्रशिक्षण शिविरों में उसका प्रयोग किया जाता है। आजकल समुपदेशन *(counseling)* के कार्य में इस प्रयोगशाला थिएटर की तकनीकों का प्रयोग किया जाता है। यह एक गुणवत्तापूर्ण शिक्षण आदान-प्रदान का प्रयास है। इसके माध्यम से अवधारणाओं का विकास, क्षमताओं का विकास, व्यावहारिक प्रशिक्षण, बुनियादी आकलन क्षमता, संवेदनशीलता, सर्जनशीलता का संवर्धन, नवाचारी प्रयासों का प्रारंभ, गतिविधि युक्त शिक्षा, सहभागिता प्रणाली, सामूहिक निर्माण, अनुभव, अनुभूति की स्थिति, नई भावना, विचारों का निर्माण आदि सारे लक्ष्यों तक पहुंचा जा सकता है। 'लेबोरेटरी थिएटर' पद्धति का आधार ही मूलतः अनुभव-अनुभूति से नवनिर्माण है, जिसकी प्रक्रिया 'इनोवेटिव' और सर्जनात्मक है। आजकल *C.A.T.A. (changing eduaction through Art)* जैसी संस्थाएं शिक्षा जगत में इस थिएटर पद्धति का विश्व स्तर पर प्रयोग कर रही हैं। *D.F.S.* (ड्रामा फॉर स्कूल) जैसी विश्वस्तरीय परियोजना भी एज्युकेशन थ्रू थिएटर एज्युकेशन' की भूमिका का प्रचार प्रसार कर रही है।

■■■

मोहन राकेश की 'ध्वनि नाट्यभाषा'

शब्द नहीं, लिपि नहीं, 'फिजीकली प्रोजेक्शन' नहीं, फिर भी वह एक भाषा है। यह पारंपरिक भाषा की परिकल्पना और उसके प्रयोग से परे है। इसकी अपनी कोई पारंपरिक बोली भी नहीं, फिर भी वह एक भाषा है।

मोहन राकेश की चर्चित नाट्यकृतियों में 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस' और 'आधे अधूरे' इन तीन नाटकों का अग्रक्रम से उल्लेख किया जाता है। इसके अलावा 'छतरियाँ' नामक ध्वनि नाटक तथा छह लाइनों का 'शुद्ध शब्द की खोज' यह मिताक्षरी नाटक भी उनकी उन नाट्यकृतियों में शुमार है, जिसको लेकर मोहन राकेश ने ध्वनि की नाट्यभाषा का हेतुपूर्वक प्रयोग किया। भाषा, ध्वनि की भाषा, मौन की भाषा के माध्यम से मोहन राकेश ने अपनी एक अलग नाट्यभाषा गढ़ी। उनकी इस प्रयोगधर्मिता को हम इस प्रकार देख सकते हैं -

१) भाषा से अभाषा की ओर जाना

२) शब्द से ध्वनि की ओर जाना

३) शब्द से नि:शब्द की ओर जाना

४) अंत में 'मौन' की भाषा की रचना करना

मोहन राकेश की नाट्यभाषा में ध्वनि की भाषा को अहम स्थान है। उनकी इस भाषा की विशेषताएं निम्नानुसार हैं -

१) यह नाट्यभाषा ध्वनि की नाट्यभाषा है।

२) उनकी नाट्यभाषा में ध्वनि शब्दों का रूप धारण करती है।

३) ध्वनि का चिन्ह *(Sign)* के रूप में वे प्रयोग करते हैं।

४) इस ध्वनि की भाषा का व्याकरण भी उन्होंने रचा।

५) वे अपनी नाट्यभाषा में ध्वनि के अलग-अलग 'पैटर्न्स' का उपयोग करते हैं।

६) उनके नाटकों में ध्वनि अलग-अलग छटाओं (शेड्स) में प्रतिबिंबित होती है।

७) कई बार 'मौन', रिक्तियाँ... भी एक ध्वनि का रूप धारण करतीं हैं।

मोहन राकेश ने अपनी इस नाट्यभाषा के प्रयोग में ध्वनि की दृश्यात्मकता (विज़िबलीटी ऑफ साउंड), ध्वनि की नाट्यात्मकता *(Dramatisation)* को मनोवस्था, मनोदशा, मनोविज्ञान से जोड़ा है।

मूलतः ध्वनि और मौन दोनों ही प्राकृतिक भाषा हैं। और इसी प्राकृतिक भाषा की खोज वे अंत तक करते रहे। 'आषाढ़ का एक दिन' से शुरू हुयी उनकी नाट्यभाषा जो काव्यात्मक शब्द, लंबी-लंबी पंक्तियाँ, शैलीबद्ध संवाद रचना, 'लहरों के राजहंस', 'आधे अधूरे', 'पैरों तले जमीन से' होकर केवल छह लाईनों में सिमटे 'शुद्ध शब्द की खोज' पर आकर ठहर जाती है और अंत में 'छतरियाँ' नाटक में शब्दों के बगैर केवल ध्वनि को लेकर ध्वनि की नाट्यभाषा की रचना करते हैं। ध्वनि में वे नये-नये अर्थों की संभावनाओं की खोज करते हैं। गोविंद चातक कहते हैं, "मोहन राकेश अपनी नाट्यभाषा की खोज में शब्द और ध्वनि, ध्वनि और मौन, बिंब और प्रतीक, लय और स्वराघात तथा शब्दों का, ध्वनि का विन्यास, नृत्य, संगीत जैसे अनेक बिंदुओं से भाषा की अर्थवत्ता पहचानने का प्रयास करते रहे।" कई शब्दहीन स्थितियों में शब्दों से पहले, बीच में और बाद में 'मौन' अपनी अर्थवत्ता में कितना सक्षम होता है, यह मोहन राकेश भलीभाँति जानते थे। इसीलिए उनका प्रयुक्त 'मौन' भी क्रियात्मक है।

मंच पर ध्वनि के रूप में शब्द की अपनी एक शक्ति होती है। राकेश ने अपने 'शब्द और ध्वनि' लेख में लिखा है कि 'नाद के आरोह-अवरोह में शब्द का आंतरिक नाटक निहित होता है, जिसे ध्वनि अर्थवत्ता देने में मदद करती है। कुल मिलाकर 'ध्वनि' नाटक में अपना एक अलग लय तत्व, नाद तत्व पैदा करता है।

ध्वनि की भाषा मोहन राकेश के लिए रंगभाषा थी। वे 'शब्द भाषा' से परे जाना चाहते थे। 'छतरियाँ' इस संदर्भ में एक सटीक उदाहरण है। एक प्रकार से यहाँ वे भाषा को, शब्द को नकार कर विभिन्न ध्वनि और ध्वनि संकेतों से बहुत कुछ कहना और कहलाना चाहते हैं।

ध्वनि के प्रयोग हेतु सभी नाटकों में वे रंग निर्देश की योजना करते हैं। इन रंग निर्देशों के माध्यम से ध्वनि को चरित्रों के मनोव्यापार से जोड़ते हैं। इस मनोव्यापार को समय और अवकाश *(Time and space)* से जोड़ते हैं। इस

प्रक्रिया में यह ध्वनि अपनी अर्थवत्ता की कई नई संभावनाओं के साथ, नाटक एक गहराई और सघनता को छूता है। नाटक में द्वंद्व, चरित्रों का अर्तद्वंद्व अधिक प्रभावी रूप से अभिव्यक्त होता है। मनोवस्था भी अंत में एक ध्वनि का रूप धारण करती दिखाई देती है।

मोहन राकेश कहते हैं "शब्दों का रंगमंच केवल शब्दों का रंगमंच नहीं हो सकता। हमें शब्दों के परे जाना होगा, एक ऐसी भाषा की खोज करनी होगी जो मनोभाव की भाषा हो, जो अनुभूति की भाषा हो, जो अंतर्द्वंद्व की भाषा हो", और उनकी यही सोच एक प्रक्रिया के रूप में हम उनके हर नाटक में देख सकते हैं। ध्वनि के साथ मोहन राकेश ने 'मौन' और 'रिक्तियाँ' के भी प्रभावी प्रयोग किये हैं। वे मनोदशा, मनोवस्था, मनोव्यापार को उसकी अनुभूति के साथ व्यक्त करना चाहते हैं। जीवन के यथार्थ को उसी यथार्थ के रूप में व्यक्त करना चाहते हैं। इसीलिए मोहन राकेश कहते हैं "जब जीवन में सुघड़ता नहीं, सलीका नहीं, मस्तिष्क में विचारों का, भावों का क्रम नहीं, तो उसे व्यक्त करनेवाली भाषा शब्दों में कैसे आएगी?" इसीलिए शब्दों; के साथ पर शब्दों से परे उन्होंने अपनी नाट्यभाषा का एक नया व्याकरण बनाया। वे कहते है, "मैं जानने की भाषा के बजाए निरंतर जीने की भाषा की ओर जाना चाहता हूँ। " और शायद उन्हें अपना मंतव्य ध्वनि और मौन की भाषा में मिल पाया हो।

'**आषाढ़ एक दिन'** मोहन राकेश का यह सर्वाधिक चर्चित नाटक है। कालिदास और मल्लिका के प्रेम प्रसंग पर आधारित यह एक कालजयी रचना है। अंबिका, मल्लिका, कालिदास, विलोम आदि प्रमुख चरित्रों के मनोव्यापार को ही नहीं बल्कि संपूर्ण नाटक के संविधान को इस नाटक में प्रयुक्त ध्वनि ने ऊँचाई पर ले जाने का कार्य किया।

वर्षा, बिजली, तूफान, तेज हवायें और उनके ध्वनिसूत्र नाटक को अधिक गहन, सघन और गंभीर अर्थवत्ता प्रदान करते हैं। मनोव्यापार के अनुसार ध्वनि के अलग-अलग पैटर्न मोहन राकेश प्रयोग में लाते हैं। पहली वर्षा, नाटक के अंतिम क्षण की वर्षा देखिए, वह पात्रों की उस समय की मनोवस्था को प्रकट करती है। अंतिम दृश्य में कालिदास जब पुनः मल्लिका के पास आता है और फिर से नया जीवन शुरू करने का प्रस्ताव रखता है। तभी अंदर से बच्ची के रोने की आवाज आती है। बच्ची की रोने की आवाज केवल एक आवाज नहीं

बल्कि यह एक ऐसी ध्वनि है अथवा रुदन है, जहां 'वर्तमान का यथार्थ' अपना असली चेहरा लेकर आता है। यह कालिदास का रुदन है, यह मल्लिका का रुदन है जो उनके जीवन की नयी संभावनाओं का ध्वस्त होना स्थापित करता है।

धान फटकना, बर्तनों को पटकना, बारीश की बूँदों की टपटप, साँयऽऽ साँयऽऽ हवा, बिजली का कड़कना, मेघों की गर्जना, दरवाजे पट हवा से खुलना, बंद होना, पैरों की आवाज, दरवाजा खटखटाने की आवाज, घोड़ों के टापों की आवाज, अनुस्वार के अनुनासिक शैली के स्वर, ऐसे कई ध्वनि की भाषा ध्वनि-प्रयोग मोहन राकेश ने प्रयुक्त किये हैं। उनकी यह प्रयोगधर्मिता की भाषा उनकी भाषा को और नाट्यात्मक बनाते हैं। जैसे -

१) "बिजली चमकती है और मेघ गर्जन सुनाई देता है। कालिदास चारों ओर देखता है, फिर झरोखे के पास चला जाता है। और वर्षा पड़ने लगती है।" यहां बिजली, मेघ गर्जन और वर्षा की ध्वनि का बड़ी खूबी से प्रयोग किया गया।

२) वह दरवाजे के पास आता है। बाहर से दोनों किवाड़ मिलाता है। किवाड़ मिलाने की अजीब-सी ध्वनि पैदा होती है। तब वर्षा और मेघ गर्जन का शब्द बढ़ जाता है।

३) मल्लिका वक्ष से लगाये बच्ची के साथ प्रवेश करती है। कालिदास को न देखकर दौड़ती झरोखे के पास जाती है और फिर किवाड़ खोल देती है। किवाड़ खुलने की अब एक दूसरी भिन्न-सी ध्वनि है।

४) मल्लिका बच्ची को बार-बार चुमती है। तब बिजली बार-बार चमकती है। मेघ गर्जन सुनाई देता है।

'लहरों के राजहंस'

अपने आप में लहरों के राजहंस अंतरनिहित, अनिवार्य द्वंद की भाषा संसारिक सुख और आध्यात्मिक शांति के बीच चुनाव की यातना है। अनिश्चित, अस्थिर, चंचल, दुविधा और संशय में छटपटाहट को व्यक्त करती है, विविध ध्वनियाँ जैसे -

१) "जिस समय सुंदरी श्रृंगार में लीन है, उसी समय 'धम्मं शरणं गच्छामि' की ध्वनि उठती है। सहसा तभी सुंदरी का श्रृंगार करनेवाले नंद के हाथ से दर्पण गिरकर टूटता है। दर्पण टूटने की ध्वनि-नंद की मनोवस्था को बिंबित,

चिन्हित करती है। ''

२) विलास भोग में डूबे नंद की मनोदशा कमलताल में विहार करते राजहंसों के 'किल्लोल' की ध्वनि उनके 'कामजीवन' की मनोवस्था को इंगित करता है।

३) पात्रों की मनोदशा के लिए ध्वनि के विविध *Movements* (संचरण) का प्रयोग नाटकीय तत्व का उद्‌घाटन *(Exposure)* करते हैं। यह सारा तानाबाना नंद और सुंदरी की मनोवस्था, मनोदशा का परिचायक है।

४) कमलताल में राजहंसों के 'कलरव' का ध्वनि गहरी नाटकीय व्यंजना को जन्म देते हैं।

५) श्यामांग का 'ज्वर प्रलाप' नंद की मनोदशा का प्रलाप बन जाता है। इसका यह प्रलाप नंद के मन का संघर्ष बन जाता हैं।

६) नाटक के रूपबंध *(structure)* में मनादेशा को इंगित करनेवाली कई ध्वनियों को प्रतीक के रूप में इस्तेमाल किया गया है।

रंगनिर्देश जो मोहन राकेश ने लिखे हैं -

'लहरों के राजहंस में अंधेरे में' सुनाई देते 'धम्मं शरणं गच्छामि' के स्वर, कर्मचारियों की अवज्ञात्मक हंसी की ध्वनि, आम की पत्तियों को झटझट सुलझाने की ध्वनि, हंसीं का स्वर, पंखों की फड़फड़ाहट, कल्लोल तथा कलरव का ध्वनि, कमल ताल में पत्थर फेंकने से निर्मित ध्वनि, हलका-सा खाँसना, झूला झूलने, ध्वनि की बाहर से आती पैरों की ध्वनि, बुदबुदाना, हल्की-सी उसांस, प्रभात की शंख ध्वनि, सुंदरी का गुनागुनाना, पृष्ठभूमि में चलता बुद्धमं शरणमं का स्वर, दर्पण फूटना, बुद्धमं शरणं का ध्वनि, हवा से द्वार का खुलना, हवा की आवाज, कबूतर की गुटर गुऽऽ, छटपटाहट में टहलते पैरों की ध्वनि, मदिरा को चषक में उंडेलने की ध्वनि।

आधे अधूरे

ऐसे ध्वनि तरंगों का प्रयोग जो श्मशान भूमि की संत्रस्त वीरानगी संप्रेषित करती है। महेंद्रनाथ बारबार 'हँह' का स्वर, स्त्री द्वारा थकान निकालने का स्वर 'ओह, होह, होह, होव्होह', कपड़े झटकने की आवाज, या पटकने की आवाजें, पुरुष की लंबी हूँऽऽ के साथ कुर्सी को झुलाता है। कुर्सी के झुलने की आवाज, झाड़न से मेज कुर्सी झाड़ने की ध्वनि, अखबार को फाड़ने की आवाज, कबर्ड बंद करने की आवाज, दूध को गटागट (ध्वनि से साथ) पीना, दराज को खोलना-बंद करना, कैंची की कच-कच, सुबकने का स्वर, दरवाजा खटखटाने

का स्वर, अंदर से कुंडी लगाने की आवाज, महेंद्रनाथ द्वारा फाईल पटकना, पन्नों की फड़फड़ाहट।

पैरों तले जमीन रंगनिर्देश में

गिलास से मेज पर ठक-ठक करना, टेबल टेनिस बाल की आवाजें, दूर से स्वर की आकस्मिकता, टेलिफोन की घंटी की आवाज, ग्लास को काऊंटर पर लुढ़काना, बिजली का कौंधना, रोने की आवाज, पानी में कोई गिरने की आवाज, अंधेरे में फोन की घंटी की आवाज, तेज बारीश की आवाज, कुत्ते के भोंकने की आवाज, चीखों की आवाज, अजान की आवाज, रिकार्ड की तेज आवाज, ताश फेंटने की आवाज।

मोहन राकेश ने ध्वनि से संबंधित अपनी परिकल्पना के संबंध केवल न आलेखों के रूप में लिखा अपितु अपने नाटकों में उन्हें साकार भी किया। इस दृष्टि से उनके रंग निर्देश को पढ़ा और देखा जाना चाहिए। छतरियाँ तो उनका एक स्वतंत्र ध्वनि नाटक हैं, जो मोहन राकेश की ध्वनि की नाट्यभाषा की प्रभावी अभिव्यक्ति करता है।

■■■

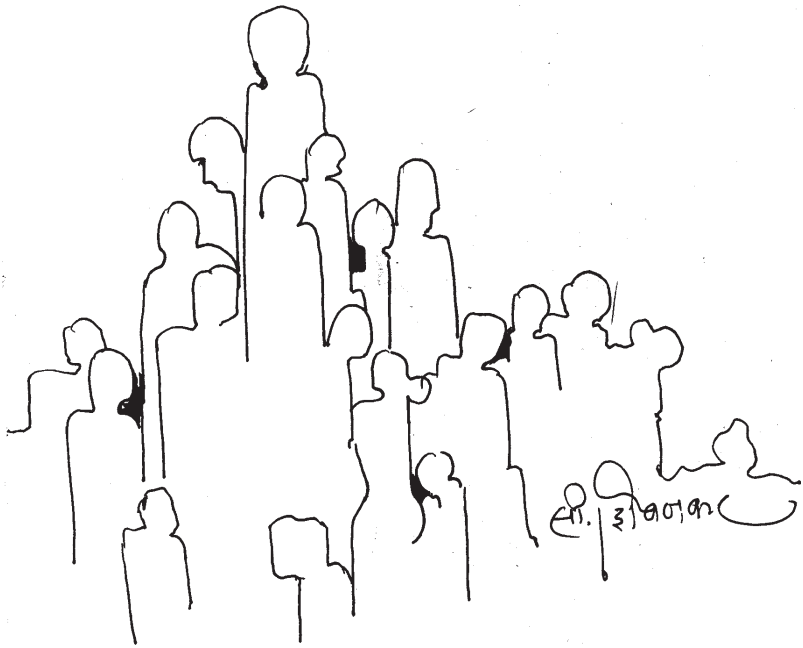

'माध्यम' - रंगमंच

- नाटक-रंगमंच का तुलनात्मक अध्ययन
- हिन्दी रंगमंच का उत्तर आधुनिक चरित्र
- सामाजिक परिवर्तन का 'माध्यम' - रंगमंच

नाटक-रंगमंच का तुलनात्मक अध्ययन

वर्तमान नाट्य शिक्षा प्रणाली अथवा रंगमंच अध्यापन शास्त्र के अंतर्गत मुख्यतः अभिनय *(Acting)*, रंगमंच तंत्र *(Stage Craft)*, निर्माण-निर्देशन *(Production-Direction)*, सर्जनात्मक नाट्यविधा *(Creative Dramatics)* तथा नाट्य के सिद्धांत *(Drama Theories)* आदि विषय विश्वविद्यालय तथा महाविद्यालयों में पढ़ाये जाते हैं। अभिनय में अभिनय पद्धति का *(Acting Method)*, अभिनय शौलियों *(Acting Styles)* का तथा अभिनय शास्त्र पद्धति का अध्ययन किया जाता है। अभिनय तंत्र के तहत भरत, स्तानिस्लावस्की, मेयरहोल्ड, ग्रोतोवस्की, अंतोनिन आर्तो, बटौल्ट ब्रेख्त, थुगीनो बार्बा, आगस्टो बोवाल आदि की अभिनय पद्धति और सिद्धांत पढ़ाये जाते हैं। रंगमंच तंत्र में नेपथ्य *(Setting)*, प्रकाश *(Lights)*, रूपसज्जा *(Make-up)*, वस्त्रसज्जा *(Costume)*, संगीत - पार्श्वसंगीत *(Music, Background Music)* आदि विषय, निर्माण व्यवस्था में निर्माण संयोजन *(Organization)*, नियंत्रण *(Control)*, प्रबंधन *(Management)*, रिहर्सल्स *(Rehearsal)*, मंचन *(Performance)* और संबंधित व्यावहारिक *(Practical)*, पक्ष आदि इकाइयों का समावेश है। सर्जनात्मक *(Creative)* नाट्यविधा में प्रयोगशील *(Experimental)* रंगकर्म, बाल रंगमंच *(Little Theatre)*, लोकनागर *(Folk Civilized)* रंगमंच, कविता-कहानी का रंगमंच और निर्देशन में निर्देशन पद्धति, निर्देशन शैलियां, निर्देशन की प्रक्रिया *(Direction methods, styles, process)* आदि विषयों का अध्यापन किया जाता है। नाट्य सिद्धांतों में विविध सिद्धांत; जैसे विविध वाद उदा. शास्त्रीयवाद *(Classism)*, नव शास्त्रीयवाद *(Neoclassism)*, यथार्थवाद *(Realism)*, नवयथार्थवाद *(Neo Realism)*, अभिव्यक्तिवाद *(Expressnism)*, प्रकृतिवाद *(Naturalism)*, एब्सर्डीजम *(Absurdism)*, विविध शैलियों *(Styles)*. के सिद्धांत में शास्त्रीय शैली *(Classical Style)*, लोकनाट्य शैली *(Folk Style)*, नाट्य सिद्धांत महाकाव्य शैली *(Epic Style)*, ओरिएन्टल शैली *(Oriental Style)*, प्रयोगात्मक शैली *(Exprimental Style)* तथा एब्सर्ड शैली *(Absurd Style)*, अन्य सिद्धांतों में रस सिद्धांत, भाषा सिद्धांत *(Rasa Theory–Linguiastic Theory)* आदि सिद्धांत पढ़ाये जाते हैं।

नाट्य-रंगमंच की अध्ययन प्रणाली में आजकल नाट्यलेखन अथवा सर्जनात्मक *(Creative Dramatic Writing)* नाटयात्मक लेखन विषय को भी सम्मिलित किया

गया है। किंतु आज भी प्रभावात्मक नाट्याभ्यास *(Dramatic Study of influence)*, नाट्यात्मक प्रभाव का तुलनात्मक अध्ययन, नाट्य-रंगमंच का तुलनात्मक *(Comparative study of Dramatic influence)*, अध्ययन-अध्यापन स्वतंत्र रूप से नहीं होता है। नाटक का अध्ययन केवल आलेख *(Text Analysis)* तक सिमट कर रह गया है। इस परिप्रेक्ष्य में नाटक-रंगमंच का तुलनात्मक अध्ययन, नाटक-रंगमंच की अध्यापन प्रणाली को एक नई दिशा दे सकता है। इस अध्यापन कार्य को अधिक सघन, अधिक विस्तृत, अधिक व्यापक बना सकता है। नाटक रंगमंच के अध्यापन शास्त्र *(Theatre Pedagogy)* को एक नई दिशा दे सकता है। नाटक रंगमंच के अध्यापन को बहुभाषिक *(Multi Lingual)*, बहुसांस्कृतिक *(Multi Cultural)* बहुप्रदेशीय *(Multi Regional)*, बहुराष्ट्रीय *(Multi National)*, बनाने में ये अध्ययन-प्रणाली कारगर हो सकती है। सही मायने में यह अध्ययन प्रणाली को वैश्विक *(Universal)*, बना सकती है। साथ ही आंतरशाखीय *(Inter Disciplinary)* अध्ययन प्रणाली को भी गति मिल सकती है। सामाजिक *(Social)*, सांस्कृतिक *(Cultural)*, भाषिक *(Lingual)*, सौंदर्यशास्त्रीय *(Aesthetics)*, साहित्यशास्त्रीय *(Literature)* मानववंश शास्त्रीय *(Anthropology)*, मनोवैज्ञानिक *(Phychological)*, आदि शाखाओं के साथ नाटक-रंगमंच का अध्ययन अधिक प्रभावी बन सकता है। इसीलिए नाट्यरंगमंच के तुलनात्मक अध्ययन-अध्यापन को प्रदर्शनकारी कला पाठ्यक्रम में समिल्लित करना आवश्यक है।

तुलनात्मक साहित्य अध्ययन शाखा की परिकल्पना *(Concept)* इतालवी कवि दांते ने विश्व के सामने रखी। ''मध्ययुगीन योरोप में जो रेनेसा युग आया, उसमें पहली बार ग्रीक एवं रोमन साहित्य तथा योरोपीय प्राकृत *(Native)* भाषा के साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन के विचारों का प्रारंभ हुआ।'' उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में मादाम स्ताईल (फ्रान्स) ने योरोप में तुलनात्मक साहित्य अध्ययन के विचारों को गति प्रदान की। फ्रान्स के सॉरबॉन विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम अधिकृत रूप में इस अध्ययन को मान्यता प्रदान की गयी। आगे शिलर, श्लेगेल, महाकवि गेटे ने तुलनात्मक अध्ययन शाखा का विस्तार किया। इसी प्रक्रिया से विश्वसाहित्य *(Universal Literatures)* की परिकल्पना का जन्म हुआ। गेटे ने भी इस परिकल्पना के तहत वैश्विक आदान-प्रदान को महत्वपूर्ण माना।

भारत में अंग्रेजी राज में विश्वविद्यालयों की स्थापना के साथ एशिया में भी तुलनात्मक साहित्य के अध्ययन की रूचि बढ़ी। 'कालोनियल' काल में इस अध्ययन को बढ़ावा मिला। प्रो. पाज्नेट ने राष्ट्रीय साहित्य *(National Literature)* की

परिकल्पना के साथ में तुलनात्मक साहित्य अध्ययन को जोड़कर तुलनात्मक अध्ययन की सीमाओं का विस्तार किया। एफ. डब्ल्यू. चॅन्डलर ने इस साहित्य को संपूर्ण साहित्य *(Complete Literature)* की संज्ञा दी। एस.एस. प्रॉवर, हेन्री रेमॉक, हिप्पोलीन तेन, ए. ओवेन अल्ड्रीज, लिलियन फ्रस्ट, गुरूदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर, बुद्धदेव बोस आदि विद्वानों ने प्रभावी परिभाषाएं दीं। भारत में १९१९ में सर आशुतोश मुखर्जी ने कलकत्ता विश्वविद्यालय में आधुनिक भारतीय भाषा *(Modern Indian Language)* का विभाग शुरू किया। जिसमें तुलनात्मक भाषा अध्ययन को प्राथमिकता दीं गई। भारत में तुलनात्मक अध्ययन की प्रणाली का प्रारंभ यहीं से हुआ। आज १०० वर्ष के पश्चात भी हमारे देश में तुलनात्मक अध्ययन को विशेष महत्व नहीं मिल पाया है। जबकि विश्व राष्ट्र *(Universal Nation)*, वैश्किव ग्राम *(Global Village)* तथा भूमंडलीकरण *(Globalization)* की प्रक्रिया से आज हम अपने आपको अलग नहीं कर सकते।

बहरहाल, तुलनात्मक अध्ययन के संदर्भ में विद्वानों ने जो परिभाषाएं दी हैं। उसके आधार पर मैं इस परिकल्पना को अधिक स्पष्ट करना चाहता हूँ -

1. One could achieve through comparative studies a more balanced views, a true perspective than is possible from the isolated analysis of a single national literature however rich in itself" (Lilian Furst in Romanticism in perspective).

2. "An Examination of Literary texts (Inculling works of Literary theory and criticism) in more than one language, through an investigation of contrast, analogy provenance or influence, or a study of literary relations' and communications' between two or more group that speaks different language" (S.S. Prawer in comparative Literary Studies : An Introduction).

3. "Affinity consists in resemblance in style, structure, mood or idea between two works which have no other connection." (A Owen Aldridge in comparative Literature: matter and method).

४. ''तुलनात्मक साहित्य अध्ययन का तात्पर्य एक अथवा अनेक साहित्य की तुलना। साथ ही साहित्य की अन्य मानवी आविष्कार के क्षेत्र से की गयी तुलना है। '' - हेन्री रेमॉक

उपरनिर्दिष्ट परिभाषाओं द्वारा तुलनात्मक साहित्य की परिकल्पना आसानी से स्पष्ट हो सकती है। एकल समीक्षा *(Single Criticism)* के बजाए तुलनात्मक अध्ययन *(Comparative Study)* अधिक संतुलित, सघन विस्तृत होने की बात

लिलियन फ्रस्ट कहते हैं। समानताएं-विषमाताएं प्रभाव के शोध को भिन्न-भिन्न भाषा, समाज तथा साहित्य की खोज कहकर, एस. एस. प्रॉवर ने साहित्य के आदान-प्रदान को तुलनात्मक अध्ययन की नींव माना है। हेन्री रेमॉक ने इसे मानवी अविष्कार क्षेत्रों की तुलना कहा है। आल्ड्रीज ने शैली, सरंचना तथा भाव के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा दो नई दुनिया को जोड़नेवाली अध्ययन पद्धति कहा है। ड्रायडन, थिओडोर सॅवरी ने अनुवादित साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन को परिभाषित किया है। तुलनात्मक अध्ययन को अधिक सूक्ष्म, विस्तृत, सघन बनाने के लिए सायरेना एन पॉनड्रॉम ने प्रभाव अभ्यास हेतु 'कालखंडीय *(Period)* प्रभाव अभ्यास का सिद्धांत रखा है। गेरशान शाकेद ने 'सांस्कृतिक स्थलांतर' *(Cultural Migration)*, अंतोनियो ग्रामची ने 'कल्चरल हेगेमोनी', एडवर्ड सईद ने 'ओरिएन्टेलिज़्म, के सिद्धांत प्रस्तुत किये हैं। एना बलकियन, गौरी विश्वनाथन, फावलर, जार्ज ल्युकाच, प्लेखोनोव, नॉर्मन हॉलंड, जोनाथन क्युलेर, स्टॅडले फिश, सॅम्युअल कोलारीज, बेनेडे ट्टो, अमिया देव, सिसिर कुमारदास, हॉस्केल ब्लॉक, एर्विन कोपेन, हेडेन व्हाईट, डॉ आनंद पाटील, वसुधा डालमिया, डॉ नगेन्द्र आदि विद्वानों ने भी साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन को महत्वपूर्ण मानकर अपने सिद्धांत, अपने विचार, अपनी भूमिकाएं अपने ग्रंथों के माध्यम से अभिव्यक्त की हैं। सभी विद्वानों ने तुलनात्मक साहित्य (नाटक, कविता, कथा, उपन्यास, समीक्षा, विविध विचार, सिद्धांत, लोकसाहित्य) के अध्ययन-अध्यापन को संपन्न बनाने की चेष्टा की है।

नाटक-रंगमंच का तुलनात्मक अध्ययन *(Comparative Study of Drama and Theatre)* शाखा को आज अधिक सक्रिय बनाना, उसकी अध्ययन-अध्यापन प्रियता बढ़ाना आवश्यक है। यह अध्ययन दो भिन्न भाषा, प्रदेश, संस्कृति, समाज, अनुभव, जीवनशैली, विचार, प्रभाव शैली, शिल्प के आधार पर किया जा सकता है। नाटक-रंगमंच के भेद एवं समानताओं को दर्शाकर तुलनात्मक विश्लेषण संभव हो सकता है। नाटक के तुलनात्मक अध्ययन के लिए १) आलेखात्मक *(Study of Text)* में विषय, आशय, कथावस्तु, भाषा, चरित्र, संवाद, शैली, शिल्प, नाट्यगत संघर्ष आदि इकाइयों की तुलना की जा सकती है। २) प्रभावात्मक अध्ययन *(Study of Influence)* में समाज, संस्कृति, भाषा, भौगोलिक स्थिति, इतिहास, जीवनशैली, मानसिकता, परिवेश, प्रभाव की प्रेरणा आदि इकाइयों को विश्लेषित किया जा सकता है। किंतु ऐसे अध्ययन हेतु मूल्यात्मक *(Value Based)*, रचनात्मक *(Constructive)* समीक्षा दृष्टि होनी आवश्यक है।

नाटक का तुलनात्मक अध्ययन शास्त्रीय कल्पना, परिकल्पना, विचारों के आधार

पर किया जा सकता है। जैसे कि मनोवैज्ञानिक *(Physcological)*, समाजशास्त्रीय *(Sociology)*, भाषाशास्त्रीय *(Linguistics)*, साहित्यशास्त्रीय *(Liferature)*, सौंदर्यशास्त्रीय *(Aesthetics)*, कलाशास्त्रीय *(Art)*, मानववंशशास्त्रीय *(Anthropology)*, नाट्यशास्त्रीय *(Drama-Theatre)*, अनुवाद शास्त्रीय *(Translation)*, आदि विविध सिद्धांतों के आधार पर शास्त्रीय तुलना का प्रयास एक नई दिशा की खोज कर सकता है। स्तानिस्लावस्की, मेयरहोल्ड, अंतोनिन आर्तो, ग्रोतोवस्की, ब्रेख्त तथा बादल सरकार आदि की नाट्यधारणाएं; इस आधार पर विश्लेषित की जा सकती हैं।

तुलनात्मक अध्ययन में अनुवाद *(Translation)* की भी महत्वपूर्ण भूमिका है। अनुवाद शास्त्र के साथ रूपांतरण *(Adoption)* तथा नवसर्जन की शास्त्रीय तुलना भी की जा सकती है। अनुवाद, भाषा की सीमाएं लांघकर कथ्य, अनुभव, विचार, कल्पना, परिकल्पनाओं को वैश्विक बनाया जा सकता है। दो समानधर्मी कल्पना, परिकल्पनाओं में भी तुलना संभव है। अनुवाद के माध्यम से यह तुलना की जा सकती है। ड्रायडेन के अनुसार अनुकृतिरूप अनुवाद *(Imitation)*, अनुवाद *(Metaphase)* तथा आशयानुगामी अनुवाद *(Paraphrase)* के माध्यम से किसी भी नाट्यकृति की तुलना की जा सकती है। इसीलिए तुलनात्मक नाट्य अध्ययन में अनुवाद महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। पर्यावरण, मूल्यात्मक विश्व, जीवनदृष्टि, भाषा, संस्कृति, कल्पना, दर्शन, मतप्रणाली का परिचय अनुवाद के माध्यम से होता है। तुलनात्मक अध्ययन में वस्तुबीज विकासशास्त्र *(Themetics)* का भी महत्व होता है। मानवीय चरित्रों की, मानवीय मूलक प्रेरणाएं, सामाजिक पर्यावरण, समसामायिक प्रश्न, जीवन धारणाएं इस वस्तुबीज को संस्कारित करते हैं। वस्तुबीज विकास शास्त्र, मनौवैज्ञानिक, मानववंश शास्त्र के क्षेत्र को भी सक्षमता से नाटक के तुलनात्मक अध्ययन को विस्तृत बना सकते हैं। "मानव समूह के सार्वत्रिक मूल्यों को आधार मानकर देश-काल-वंश के परे जाकर वैश्विकता की खोज तुलनात्मक अध्ययन के माध्यम से की जा सकती है।" इसी को वसंत बापट विश्व राष्ट्र *(Universal Nation)* निर्माण का कार्य कहते हैं। तात्पर्य तुलनात्मक अध्ययन के माध्यम से वैश्विकता के तत्व का भी अध्ययन किया जा सकता है। नाटक इस परिप्रेक्ष्य में एक महत्वपूर्ण साहित्य विधा है, जो सभी कला-साहित्य प्रकारों को अपने में समेटे हुये है। जिसके माध्यम से सांस्कृतिक सापेक्षतावाद *(Cultural Relativism)* का विश्लेषण किया जा सकता है।

नाटक-रंगमंच के तुलनात्मक अध्ययन हेतु निम्न कुछ विषयों की चर्चा करना आवश्यक है। विषय, आशय, शैली, शिल्प, अनुवाद, रूपांतरण, आधुनिकता, उत्तर

आधुनिकता, कोलोनियल, पोस्ट-कोलोनियल, मिथकीय, जाति, वर्ण, वंश, लिंग के आधार पर विविध नाटकों की तुलना की जा सकती है। जाति-वर्ण के आधार पर ब्लैक थिएटर-दलित थिएटर, विचारों के आधार पर बुद्धिस्ट-हिंदुत्ववादी नाटक, आशय के आधार पर सारीपुत्र प्रकरण (अश्वघोष) प्रबोध चंद्रोदय, (श्रीकृष्ण मिश्र), नायिका भेद के आधार पर मृच्छकटिक (शुद्रक), शाकुंतल (कालिदास), स्त्री विमर्श के आधारपर डॉल्स हाऊस (इब्सेन)-माधवी (भीष्म सहानी), एपिक लोक शैली के आधार पर ब्रेख्त के 'कॉकेशिएन चॉक सर्कल' तथा भिखारी ठाकुर के 'गबर घिचोर' में, एक वैचारिक प्रमेय के आधार पर, कालीगुला (अल्बैर कामू) तथा कथा एक कंस की (दया प्रकाश सिन्हा) इन नाटकों में तुलना कर नये तथ्य खोजे जा सकते हैं। नैतिकता, सेक्स, एथिक्स क्रायसिस के परिप्रेक्ष्य में गिरीश कर्नाड, विजय तेंडुलकर, महेश दत्तानी के नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। व्यक्तित्व के आधार पर मराठी के बालगंधर्व तथा गुजराती के जयशंकर सुंदरी की स्त्री भूमिकाओं का अध्ययन भी संभव है। प्रभाव अध्ययन के परिप्रेक्ष्य में शेक्सपियर का भारतीय रंगमंच पर प्रभाव, पारसी थिएटर का मराठी-हिन्दी रंगमंच पर प्रभाव आदि की तुलना की जा सकती है। प्रतिक्रियाओं के रूप में द्वितीय विश्व युद्ध, आधुनिकता, उत्तर आधुनिकता भूमंडलीकरण, रंगमंचीय सिद्धांत के आधार पर ग्रीक-संस्कृत रंगमंच, तथा अनुकृति के तुलनात्मक अध्ययन के परिप्रेक्ष्य में ग्रीक-संस्कृत-जापनीज़ रंगमंच के सिद्धांतों में तुलना की जा सकती है। इसी प्रकार अरस्तु के 'पोएटिक्स' तथा भरत के 'नाट्यशास्त्र' का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। इलियड पर आधारित तथा रामायण पर आधारित नाटकों की तुलना भी संभव है। साथ ही दो अलग, अलग नाट्य आलोचना पद्धतियों का भी शैली, पद्धति, शास्त्रीय सिद्धांत के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है।

मराठी-हिन्दी-अंग्रेजी नाटकों के परिप्रेक्ष्य में डाल्स हाऊस (इब्सेन), बिन दीवारों का घर (मन्नू भंडारी), घराबाहेर (आचार्य अत्रे), गणिका चरित्र पर आधारित नटिर पूजा (रवींद्रनाथ ठाकुर), आम्रपाली (प्रकाश त्रिभुवन), वेटिंग फॉर गोदो (सैम्युएल बेकेट), महानिर्वाण (सतीश आळेकर), एक बार फिर गोदो (भगवान हिरे), इंशा की तलाश (जफर पाकिस्तानी) की तुलना नाटक के तुलनात्मक अध्ययन में नये स्वरों का निर्माण कर सकती हैं। दो भिन्न भाषाएं, परिवेश, पर्यावरण, सोच, प्रदेश, धार्मिक-सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, ऐतिहासिक, पारम्परिक मान्यताएं तुलनात्मक नाट्य अध्ययन को नई दिशाएं दे सकती हैं। तुलनात्मक अध्ययन में नवता, समानधर्मिता, विशेषता के तत्व महत्वपूर्ण होते हैं। इन तत्वों के आधार पर एक नया परिप्रेक्ष्य

खोजा जा सकता है। हिप्पोलिन तेन ने मनुष्य *(Man)*, काल *(Moment)* तथा परिस्थिति *(Milew)* के तत्वों को तुलनात्मक अध्ययन हेतु आवश्यक माना है। इस तत्व के आधार पर प्राचीन पुराण कथा, मिथक से आधुनिकता के यथार्थ, नव यथार्थ का मूल्याकंन संभव है। प्रोमिथिएस बाऊंड (इस्किलस) मिथ ऑफ सिसिफस (अल्बेर कामू) से लेकर सैम्युएल बकेट के ओबेदू तक के 'प्रॉमिथियस-सिसिफस-ऑबेदू' इन प्रतीकात्मक मिथकीय नायकों का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। सांस्कृतिक मानववंश शास्त्र, सांस्कृतिक भाषाशास्त्र, मनोभाषाशास्त्रीय, मनोजैविक विश्लेषण शास्त्र, भाषिक समाजशास्त्र आदि शास्त्रों के कुछ नये सिद्धांत को भी आज तुलनात्मक अध्ययन संदर्भ में जांचा-परखा जा रहा है। भारतीय तुलनात्मक अध्ययन शास्त्र को, शाखा को, क्षेत्र को संपन्न बनाने हेतु तुलनात्मक अध्ययन प्रवृत्ति का विकास होना आवश्यक है।

इस परिप्रेक्ष्य में उदाहरण के तौर पर *"Negotiating the Ethical crisis – A view of Contemporary Indian Drama"* इस शोध को देखा जा सकता है। इस शोध में पोस्टमॉडर्न और पोस्ट कोलोनियल परिप्रेक्ष्य में विजय तेंडूलकर (खामोश अदालत जारी है!) गिरीश कर्नाड (टीपू सुलतान का रब्बा) तथा महेश दत्तानी के (ए मग्गी नाईट इन मुंबई) आदि नाटकों का 'एथिक्स क्रायसिस' के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। सेक्स, मोरेलिटी, तथा इंडिविजीलिज्म (व्यक्तिगतता) को नये ढंग से परिभाषित किया गया है। 'खामोश' में उन्हें सोशल एथिक्स दिखाई देता है। 'टीपू' में राजनितिक एथिक्स खोजते हैं। तो 'ए मग्नी नाईट इन मुंबई' में सेक्स से संबधित एथिक्स पर दत्तानी चर्चा करते हैं। कन्नड़-मराठी-अंग्रेजी भाषाओं से परे जाकर 'क्रास कल्चरल' परिप्रेक्ष्य में आधुनिकता, उत्तर आधुनिकता, भूमंडलीकरण, पोस्ट कोलोनियल युग में बदलती धारणाओं की ये तीनों नाटककार समीक्षा करते हैं। साथ ही एक नये हायब्रीड *(Pidgin)* विश्व की वास्तविकता को उजागर करते हैं। साथ ही अपने सांस्कृतिक अलगाव के प्रश्नों को भी सामने लाते है। लिला बेणारे का संघर्ष अज़ादी और सामाजिक मान्यता के परिप्रेक्ष्य में दिखता है। स्त्री विमर्श को भी तेंडुलकर ने 'शांतता' में यथार्थवादी ढंग से रखा है। कर्नाड का 'टिपू' एक देशभक्त है। राजनीति से देश को ऊंचा मानता है। अंग्रेजों से होने वाले मनमुटाव के परिप्रेक्ष्य में कर्नाड टीपू के 'पोलिटीकल एथिक्स' की चर्चा करते हैं। महेश दत्तानी 'ए मग्गी नाईट' में समलैगिंकता के प्रश्न को उजागर करते हैं। नारीवाद के परिप्रेक्ष्य मे 'गे' की आज़ादी की बात करते हैं। सेक्सुएल आयडेंटीटी की एक नई परिभाषा दत्तानी अभिव्यक्त करते हैं।

ये तीनों नाटककार दो संस्कृति, दो परम्परा तथा दो सभ्यता के संघर्ष को अपने दृष्टि से रखते हैं। टीपू राज परिवार से है तथा दत्तानी का नायक उच्च महानगरी समाज से संबंधित है। *"By Studding these three dramatics in a comparative analysis, we are able to address a diversity of subject positions and explore the possible of a composite conception of ethical stand as we see it in contemporary Drama"* भारतीय रंगमंच के परिप्रेक्ष्य में ये तीनों नाटक 'एथिक्स क्राइसिस' का वर्तमान रूप इंगित करते हैं।

"Beckett and Brecht : Keeping the Endgame at a Distance" जुड़ी हत्झेनबेलर अपने इस शोध प्रपत्र में 'ब्रेख्त-बेकेट के एलिएनेशन की चर्चा करते हैं। जो दोनों के नाटक में विद्यमान है। साथ ही दोनों जीवनदर्शन की समानताएं तथा विषमताऐं स्पष्ट करते हैं।

डॉ. सतीश पावड़े ने 'शेक्सपियर का मराठी-पारसी रंगमंच पर प्रभाव' विषय पर शोध किया है। जिसमें सांस्कृतिक राष्ट्रवाद तथा ग्रामची के कल्चरल हेगेमनी के सिद्धांतों को स्पष्ट किया गया है। डॉ. निशा शेंडे ने 'मराठी-पारसी रंगमंच में स्त्री' अध्ययन में स्त्री विमर्श को चर्चा का विषय बनाया है। मराठी रंगमंच की नायिकाएं केवल अभिसारिका, भोग्या, या दैवी आदर्श के रूप में दिखती हैं। वहीं पारसी थिएटर की नायिकाएं विद्रोही और वीरांगणाएं हैं। क्योंकि दोनों रंगमंचों की सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की परिकल्पनाएं भिन्न हैं। मराठी रंगमंच का सांस्कृतिक राष्ट्रवाद *(Cultural Nationalism)* हिंदूत्ववादी है और पारसी रंगमंच का सेक्यूलर है।

इन नमूना अध्ययन *(Case Study)* के आधार पर सामाजिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, सैद्धांतिक, भाषिक, मनोवैज्ञानिक, कालखंडीय, तथा धार्मिक तथ्यों के तुलनात्मक अध्ययन के माध्यम से विश्लेषित करने का प्रयत्न अध्ययनकर्ताओं ने किया है। यह अध्ययन एक दिशा को इंगित करता है। अन्य अध्येता शायद इन्हीं तथ्यों को अन्य परिप्रेक्ष्यों में रख सकते हैं। ये सारी संभावनाएं, नये शोध, नये परिप्रेक्ष्य नाट्य-रंगमंच की तुलनात्मक अध्ययन शिक्षा प्रणाली हमें उपलब्ध करा सकती है। इसलिए नाटक-रंगमंच की तुलनात्मक अध्ययन शिक्षा प्रणाली की आज अत्यंत आवश्यकता है।

■■■

हिंदी रंगमंच का उत्तर आधुनिक चरित्र

आज हिन्दी ही नहीं अपितु सम्पूर्ण भारतीय रंगमंच के संदर्भ में उत्तर आधुनिकता की चर्चा बड़े पैमाने पर हो रही है। विगत कई वर्षों से राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के भारतीय रंग महोत्सव में जिस प्रकार की प्रस्तुतियों की बाढ़-सी आ गयी है, उसके आधार पर उत्तर आधुनिक भारतीय रंगमंच का परिदृश्य उभर कर आ रहा है। हालांकि कोई भी निर्देशक, निर्माता अथवा रंगकर्मी जाहीर तौर पर उसका निरूपण उत्तर आधुनिक प्रस्तुति के रूप में नहीं कर रहा है। किंतु जो विशेषताएं, भिन्नताएँ तथा नाट्य प्रस्तुतियों का स्वरूप प्रदर्शित किया जा रहा है, उसमें उत्तर आधुनिकता की परिकल्पना का प्रतिबिम्ब साफ तौर पर दिखाई दे रहा है।

सबसे पहली विशेषता भाषाई विखंडन के रूप में दिखाई देती है। अगर हम भारंगम (भारत का रंग महोत्सव) की बात करें तो सत्तर फीसदी नाटक या तो अभाषिक हैं या बहुभाषिक हैं। इन सारी प्रस्तुतियों में लेखक नदारद है। निर्देशकों की प्रभूता स्पष्ट रूप में दिखाई देती है। बहुतांश नाट्यकृतियाँ इंप्रोवाइज़्ड हैं अथवा कार्यशालाओं की सामूहिक निर्मितियाँ हैं। आलेख के प्रति जो नज़रिया है, वह लगभग आलेख एवं पाठ को खारिज करनेवाला है, जो उत्तर आधुनिक रंगमंच की अभिन्न, प्रभावोत्पादक विशेषता है। भाषा का विखंडन बहुस्तरीय है। भाषा को विखंडित कर दृश्यात्मक आलेख *(Visual Text)* के प्रति नये रंगकर्मियों का रूझान चर्चा का विषय है। साथ ही विन्यासन *(Design)* की परिकल्पना लेखन, निमार्ण के बजाए सोच-नज़रिया, विचार, अनुभव *(Thought, Approach, Experience)* आदि का बड़े पैमाने पर विन्यास किया गया है। इसे हम उत्तर आधुनिक नज़रिये का विन्यासन *(Design of Postmodern thought, Approach and Experience)* कह सकते हैं। सर्कस के कलाकार हों, वारांगणाए हों, मजदूर हों या फिर बौने लोग हों। वे अपना विखंडित यथार्थ खुद ही प्रस्तुत कर रहे हैं।

यहां बहस का मुद्दा यह है कि जो नाट्य प्रस्तुतियाँ अभाषिक हैं अथवा ध्वनि की भाषा, प्रकाश की भाषा, दृश्यविन्यास की भाषा में प्रस्तुत हो रही हैं फिर

उन्हें हिन्दी रंगमंच की प्रस्तुतियां क्यों कहा जाए? इस पर रंगकर्मी तर्क देते हैं कि यह नाट्य प्रस्तुतियां भले ही हिन्दी भाषा में नहीं, किंतु वे सारे रंगकर्मी, उनकी संस्थाएं, निर्देशक हिन्दी भाषिक हैं। भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी उनकी मातृभाषा भी है। भारंगम भी भारतीयता बनाम हिन्दी अस्मिता को प्राथमिकता देती है। उनके अधिकतर प्रयोग भी भाषिक प्रदेश में होते हैं। बहरहाल हिन्दी नाट्यालेख, नाटककार के समक्ष ऐसी प्रस्तुतियाँ चुनौती के रूप में उभरकर आ रही हैं। दूसरी ओर निर्देशकों की अथवा विन्यासकारों की सत्ता अधिक प्रभावी बन रही है। लेखक-निर्देशक के संबंधों पर, लेखक और रंगमंच के संबंधों पर यह परिदृश्य कई सवाल खड़े करनेवाला है, जो उत्तर आधुनिकता के रंगमंचीय सिद्धांतों की एक विशेषता बताई जाती है।

इतिहास की मृत्यु, महानायक, महाख्यानों की मृत्यु, पात्र की मृत्यु या खंडन, ध्वनि का आलेख के रूप में प्रस्तुति, दृश्यों का कोलाज, नैरेटीव फार्म का निषेध, एकालाप अथवा समूह का दृश्य रूप में स्थापना, शिल्पगत विविधता, आलेख-परफार्मन्स का नया नज़रिया, प्रयोगधर्म पर बल, किंतु उसमें भी विखंडन विसंरचना का आग्रह, दृश्य विन्यास में चित्र, कटआऊट्स, शिल्प, इन्स्टॉलेशन, मल्टीमिडीया, त्रिमितिक दृष्टिकोण का स्वीकार, नाट्यतत्वों में बिखराव, भावावस्था का भाषावस्था में ही दृष्यांकन, रोज़मर्रा के जीवन में उपर्युक्त विविध उपकरण, भाण्ड, उपादान, रंगों का अवस्थानुकूल प्रयोग, समय सीमा का अ-निर्धारण, देहभाषा, मूकभाषा, वातावरण-पर्यावरण की भाषा, रंगतंत्र की विशेषताएं अथवा परिचयात्मक तत्व इन नाट्य प्रस्तुतियों में परिलक्षित हुये, जिन्हें उत्तर आधुनिकतावादी रंगचिन्तक उत्तर आधुनिक रंगमंच की विशेषताएं अथवा परिचयात्मक तत्व *(Identical Elements)* के रूप में निरूपित करते हैं। यहाँ खास बात यह है कि ये सारे तत्व, सारी इकाइयाँ नाट्यमंचन, नाट्यप्रयोग, नाट्यप्रस्तुति के रूप में निरूपित किये गये हैं। यहां नाट्यालेख *(Script or Text)* का विचार गौण माना गया है। केवल प्रदर्शन *(Performance)* ही उत्तर आधुनिक रंगमंच का नज़रिया है, साधन है और साध्य भी। परफार्मन्स ही विषय है, परफार्मन्स ही आशय है, परफार्मन्स ही दृष्टिकोण है, परफार्मन्स ही कथ्य है, परफार्मन्स ही तथ्य है।

यह आज की रंगमंचीय भाषा *(Theatrical Language)* है। भूमंडलीकरण

की प्रक्रिया से निर्मित वर्चस्व, प्रभूता के मूल्य *(Hegemonic Values)* प्रणाली को तोड़ने के लिए यह रंगमंच प्रति-प्रभूता *(Counter Hegemony)* की व्यवस्था को जन्म दे रहा है। क्या ग्राहक बने समाज को, दर्शकों का यह रंगमंच भ्रम, तृष्णा, भोगवाद के चक्रव्यूह से बाहर निकालने में कारगर सिद्ध होगा? क्योंकि न इसमें एब्सर्ड थिएटर, न एपिक थिएटर, न ऑप्रेस्ड थिएटर आदि की मूल्यव्यवस्था दिखाई देती है, न प्रतिरोध के स्वरों (*Unity of Resistance)* की एकात्मता दिखाई देती है। (इसमें कुछ अपवाद ज़रूर है, जिसमें मैं विशेष रूप से 'मिराज' नाटक का उल्लेख करना चाहुंगा, जिसने कालिदास के ऋतुसंहार का परिप्रेक्ष्य, मायने, प्रतिमा को जड़ से ही बदल दिया। ऋतूओं के विखंडन की यह एक सटीक प्रस्तुति है।

इस परिकल्पना का जन्म एकाएक नहीं हुआ। विगत कई वर्षों से यह प्रक्रिया चलती रही है। बादल सरकार का 'भोमा', रतन थियाम का 'प्रोलॉग', विजय तेंडूलकर का 'सफर', 'नियतीच्या बैलाला', उदय प्रकाश का 'मोहनदास', मकरंद साठे का 'ते पूढे गेले', श्याम मनोहर का 'दर्शन', महेश एलकुंचवार का 'युगांत', नादिरा बब्बर का 'फुट नोट्स ऑफ लाईफ', भगवान हिरे का 'एक बार फिर गोदो', श्रीकांत सराफ का 'नत्था खड़ा बाजार में' आदि भारतीय नाटकों में उत्तर आधुनिकता के आलेखात्मक, दर्शनात्मक तत्व देखे जा सकते हैं। भूमंडलीकरण के प्रति कथ्यात्मक, तथ्यात्मक प्रतिरोध हम इन नाटकों में देख सकते हैं। इन नाटकों में नायक की प्रतिमा का, आदर्शों का विखंडन साफ तौर पर देखा जा सकता है। 'एक बार फिर गोदो' में जगन्नायक गोदो अथवा गॉड की हत्या कर दी जाती है। नाट्यालेख के स्तर पर भी उत्तर आधुनिकता के कथ्य तथा तथ्य स्पष्ट रूप से इन नाटकों में दिखाई देते हैं। कई नाटककार इस विघटन को आलेखित कर रहे हैं। बहुभाषा, पिडगीन (हायब्रीड) भाषा के स्तर पर वह परिलक्षित हो रहा है। परंतु गत दशक में अभाषिक आलेख, या पाठ्य को नकारने की प्रवृत्तियाँ मंचन की आज़ादी के नाम पर बढ़ी हैं, जो हिंदी रंगमंच के लिए चिंता और चुनौतियाँ का विषय बनता जा रहा है। क्या यह नया रंगमंच हमारे सौंदर्यबोध को भी बदल सकता है। डॉ. रवि श्रीवास्तव इस प्रश्न का उत्तर सकारात्मक रूप में देते हैं! "उत्तर आधुनिक समाज एक सम्पूर्ण मनोदशा, जीवनशैली एवं सांस्कृतिक व्यवहार भी है। जिसमें हमारी भाषा,

साहित्य, कला और संस्कृतिबोध एवं सर्वोपरि रूप से हमारी सौंदर्याभिरूचि अथवा सौंदर्यबोध तक को बदलने में सफलता हासिल की है।" किंतु यह सम्पूर्ण सत्य प्रतीत नहीं होता है। हमारा सौंदर्यबोध अब भी रस, भाव, विरेचन जैसे पारम्परिक सिद्धांतों से जुड़ा है। 'विखंडन' के सौंदर्यबोध को हमारी मानसिकता, हमारा दर्शन, हमारे संस्कार शायद ही व्यापक और सार्वत्रिक स्तर पर स्वीकार करे। शायद ही आम दर्शक इस रंगमंच से अपना तादात्म्य स्थापित कर सकें। अति यथार्थवाद ही रंगमंच पर स्थापित नहीं हो पाया तब यह 'हायपर' यथार्थवाद क्या अपनी जड़ें जमा पायेगा? यह चर्चा का विषय है।

चुनौतियाँ

औद्योगीकरण की प्रक्रिया में आधुनिकता ने जन्म लिया। वैसे ही भूमंडलीकरण ने उत्तर आधुनिक विचार को जन्म दिया। इसलिए उत्तर आधुनिकता का विचार हमें भूमंडलीकरण, बाज़ारवाद, उपभोक्तावाद, उपभोगवाद, संचारक्रांति आदि के परिप्रेक्ष्य में करना अनिवार्य होता है। इन तत्वों ने आचार, विचार, जीवनशैली ही नहीं बदली बल्कि उसे नियंत्रित कर रखा है। हमारा अस्तित्व, हमारा परिचय अब केवल एक ग्राहक, उपभोक्ता तक सिमट कर रहा है। हमारी क्रयशक्ति हमें स्थापित करेगी या विस्थापित? तात्पर्य एक होड़ सी लगी है, क्षमता हो अथवा ना हो, ग्राहक बनने की अपरिमित तृष्णाएं लिए यह ग्राहक बाजारवाद के गर्त में खोता जा रहा है। यह स्थिति चिंताजनक है। मानवीय संबंध, मानवीय मूल्य, प्रकृति से जुड़े प्रश्न, आतंक, आत्मकेन्द्री वृत्तियों का जन्म, 'बेटरमेंट' की होड़, तत्कालिकता के तत्व, संचार, सम्प्रेषण के बदलते मायने, तरीके, भोगवादी वृत्तियों का उफान, लैंगिकता के प्रश्न, आज उत्तर आधुनिकता के परिचायक बन गये हैं।

इसी परिप्रेक्ष्य में आज के हिन्दी रंगमंच की वैचारिक आलोचना अत्यावश्यक बन जाती है। क्या यह रंगमंच उत्तर आधुनिकता से प्रभावित हो रहा है? क्या विखंडन का प्रतिबिंब हिन्दी रंगमंच में देखा जा सकता है? क्या यह प्रतिरोध का रंगमंच है या प्रतिक्रिया का रंगमंच है? या शनैः शैनः बनती चली जा रही फैशन है? यह थिएटर किसी आस्था, प्रतिबद्धता को मानता भी है? या केवल परफार्मन्स हेतु रंगतंत्र के नये आयामों का अविष्करण किया जा रहा है। सृजनशील प्रेरणा *(Creative Instingt)* का कोई तत्व इस रंगमंच में है या

केवल तांत्रिक प्रयोगधर्मिता *(Tenchical Experimentalism)* की यह ज़रूरत है? इस परिप्रेक्ष्य में हिन्दी रंगमंच का क्या भविष्य होगा? क्या नाटककार को प्रस्तुतीकरण की सीमा से बाहर कर दिया जाएगा? क्या यह रंगमंच मुख्य प्रवाह का रंगमंच बनेगा? या 'कास्मोपॉलीटन', 'मेट्रोपॉलीटन' शहर की एक 'फास्ट फूड' जैसी ज़रूरत बन जाएगी? इसे प्रयोगधर्मिता कहने के पश्चात क्या अन्य प्रयोगधर्मिता के द्वार बंद हो जाएंगे? ऐसे कई सवाल खड़े हो रहे हैं। भारंगम तथा उसके जैसे शीर्षस्थ नाट्य समारोह, सरकारी प्रोजेक्ट, फेलोशिप, मल्टीनैशनल कंपनियों की स्पान्सरशिप, यूरोपिय देशों से प्राप्त फंडिंग, विविध नाट्य प्रतियोगिताओं में कुछ अलग, हटके प्रस्तुति के रूप बाँटे जा रहे पुरस्कार इसमें थिएटर का महत्व निश्चित रूप से बढ़ा रहे हैं। निर्देशक, विन्यासक, संस्थाएँ प्रतिष्ठित हो रही हैं। किन्तु क्या मौलिकता, प्रतिबद्धता, गंभीरता, प्रभावोत्पादकता, संस्कार क्षमता, साहित्यिक मूल्य, रंगमंचीय मूल्य आदि के संदर्भ में गंभीरतापूर्वक सोचा जाएगा? हिन्दी ही क्यों? सभी भाषाई और क्षेत्रीय रंगमंच के समक्ष यह चुनौती खड़ी हो रही है। भारतीय मानसिकता के परिप्रेक्ष्य में इस उत्तर आधुनिक रंगमंच की समीक्षा होनी आवश्यक है। नकारात्मक दृष्टि से भी ऐसे रंगमंच को देखा जा सकता है। समय, परिवेश, दर्शक, उसकी प्रासंगिकता, समकालीनता तय कर सकते हैं। क्यों न एक 'प्रयोग' *(Experiment)* के रूप में देखे? बाकी समय के साथ उसका भविष्य तो तय होगा ही...

■■■

सामाजिक परिवर्तन का 'माध्यम' - रंगमंच

भरत के 'नाट्यशास्त्र' में दर्शकों को 'सामाजिक' कहा गया है। नाट्यशास्त्र ने इसी 'सामाजिक' के सर्वांगीण उन्नयन को नाटक का मूल उद्देश्य माना है। भारतीय संस्कृत नाटक के उद्‌गम के परिप्रेक्ष्य में समाज को रंगमंच का अभिन्न अंग माना गया है। विश्व की प्राचीनतम नाट्य संस्कृति यूनान की है। इस संस्कृति में भी नाटक को समाज की अभिव्यक्ति कहा गया है। यूनानी नाटक का उद्भव कृषि संस्कृति से, कृषि के सामूहिक क्रियाकलापों से हुआ है। इन दो संदर्भों के पीछे जाकर हम आदिम संस्कृति से जुड़ी शिकार विधि हो, या फिर 'यातु विधि' हो ये दोनों नृत्यात्मक सामूहिक अथवा सामाजिक विधि थे। तात्पर्य नाटक, रंगमंच सामूहिक, सामाजिक, सामाजिक हितार्थ और सामाजिक प्रतिबद्धता का विषय है। मनोरंजन से उद्‌बोधन यह रंगमंच का मूल उद्देश्य माना गया है। साहित्य की तरह रंगमंच भी समाज का दर्पण होता है। इसीलिए रंगमंच के माध्यम से हम समाज के मनोविज्ञान का अभ्यास कर सकते हैं। रंगमंच का दर्शकों पर भावनिक और बौद्धिक दो प्रकार से प्रभाव पड़ता है। प्रभावों की ये दो इकाइयां सामाजिक परिवर्तन में अहम भूमिका अदा करती हैं। *"purpose of the tragedy is purification While the comedy is social criticism"*, अरस्तू इतना स्पष्ट रूप से नाटकों का कार्य बताते हैं, तात्पर्य रंगमंच की सामाजिक परिवर्तन में जो भूमिका है, उसको 'पोएटिक्स' में भी दर्ज किया गया है। रेनेसां (प्रबोधन) काल में भी रंगमंच ने सामाजिक परिवर्तन के आंदोलन में अपना सक्रिय योगदान दिया है। एलिज़ाबेथ काल में भी रंगमंच ने इस परिप्रेक्ष्य में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। रंगमंच के माध्यम से परिवर्तन का कार्य सामान्य रूप से होता रहा है। किन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के बाद रंगमंच को समाज परिवर्तन का एक हथियार, माध्यम, उपादान, सामग्री, विधा माना गया। इसी दृष्टिकोण से रंगमंच को तराशा गया, उसकी पुनर्रचना की गयी। उसे पुनर्व्याख्यायित ही नहीं अपितु सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में रगमंच की पुनर्स्थापना भी की गयी। द्वितीय विश्व युद्ध विरोधी अभियान के तहत रशिया में नुक्कड़ नाटकों की फौज खड़ी की गयी, जो आगे चलकर विश्व के नुक्कड़ नाटक आंदोलनों की विरासत बनी।

सामाजिक प्रश्नों को लेकर इब्सन ने रंगमंच के इतिहास में परिवर्तन का नया अध्याय जोड़ा। 'डाल्स हाउस' नाटक ने नारीवाद की नींव रखी। 'एनिमी ऑफ द पीपल्स' ने प्रदूषण से पस्त होते समाज को आंदोलन की दिशा प्रदान की है।

समाजवाद के माध्यम से समाज परिवर्तन का आंदोलन खड़ा करने का काम बर्टोल्ट ब्रेख्त ने किया है। रंगमंचीय हथियार के रूप में 'एलिनेशन थियरी' और 'एपिक थियेटर' जैसे उपादान दिये ब्रेख्त ने कहा है, *"Theatre must be an Agent of social and political change"* और इसी विचार के साथ ब्रेख्त ज़िंदगी भर सामाजिक परिवर्तन की लड़ाई लड़ते रहे। ब्रेख्त के अलावा वैश्विक परिदृश्य में सामाजिक परिवर्तन को ही रंगमंच का उद्देश्य मानकर काम करने वाले रंगकर्मियों में आगस्टो बोवाल (ब्राज़ील), ग्रोतोवस्की (रशिया), कबासों सिडने (झांबिया), पेनिना प्लामा (नाइजिरिया), यूजीनों बारबा (पेरिस) तथा भारतीय परिदृश्य में 'थर्ड थियेटर' के बादल सरकार, 'नया थियेटर' के हबीब तनवीर, 'जन नाट्य मंच' के सफदर हाशमी, प्रोबीर गुहा, मंजुल भारद्वाज, संभाजी भगत, अतुल पेठे जैसे नाम सम्मानपूर्वक लिए जाते हैं। इन रंगकर्मियों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से सामाजिक परिवर्तन के कार्य के बजाय प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक परिवर्तन के कार्य को अंजाम दिया गया है। सर्वहारा वर्ग के प्रश्न, आदिवासियों के प्रश्न, जातिवाद, वर्णवाद, आर्थिक विषमता, पूंजीवाद, राजनीति, किसानों की समस्याएं, मजदूरों के प्रश्न, अंधविश्वास, धार्मिक मान्यताएं, कर्मकांड, आम आदमी की जीवन जीने की जद्दोजहद, शिक्षा से जुड़े प्रश्न, नारी शोषण, जेंडर्स के प्रश्न, कानून व्यवस्था से जुड़े प्रश्न आदि कई प्रश्नों को रंगमंच हाशिये से उठाकर लाता रहा है। शोषण मुक्त समाज की स्थापना, विज्ञानवाद, रैशनलिज़म, समता, बंधुता, कल्याणकारी समाज का सपना, न्याय, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, विषमता मुक्त वातावरण, मानवीय मूल्यों की स्थापना, नैतिकता आदि से युक्त समाज की स्थापना सामाजिक परिवर्तन का रंगमंच करना चाहता है। इस परिप्रेक्ष्य में सामाजिक परिवर्तन का रंगमंच कहे जाने वाले आगस्टो बोवाल के 'थियेटर ऑफ द ओप्रेस्ड' की विशेष चर्चा यहां की जा सकती है।

द थियेटर ऑफ द ओप्रेस्ड

इस रंगमंच की परिकल्पना ब्राज़ील के आगस्टो बोवाल ने ईजाद की। उन्होनें रंगमंच को सामाजिक परिवर्तन का 'इन्स्ट्रूमेंट', 'टूल्स' तथा 'मीडियम' माना है *"Theatre is considering a mean to reflect peoples lives and re-create it for a deeper insight. It might be a tool to understand the real problem of society and contribute in finding solution for them as continues at-tempt for change"* यही उनके रंगमंच के सिद्धांतों का, रंगमंच के व्यवहार का अंतिम उद्देश्य रहा है। 'द थियेटर ऑफ द ओप्रेस्ड' सामाजिक परिवर्तन का रंगमंच है। इस थियेटर के सिद्धान्त, रंगमंच की 'पेडोगोगी', इस थियेटर से जुड़े 'प्रैक्टिकम' रंगमंच की पद्धति यानी सभी का अंतिम उद्देश्य सामाजिक परिवर्तन ही है।

आगस्टो बोवाल के 'द थियेटर ऑफ द ओप्रेस्ड' के तहत अन्य और कई रंगमंच के प्रकारों का अस्तित्व देखा जा सकता है। असल में ये रंगमंच की अलग-अलग पद्धतियाँ हैं, जिसमें 'फोरम थियेटर', 'इनविज़िबल थियेटर', 'न्यूज़पेपर थियेटर', 'रेनबो थियेटर' आदि का समावेश है। इन सभी पद्धतियों में दर्शक कलाकारों के सहसंबंधों पर काफी बल दिया गया है। दर्शकों की सहभागिता यह रंगमंच अनिवार्य मानता है, इसीलिए यहाँ 'स्पैक्टेटर' भी 'एक्टर' होता है। इसे 'पार्टीसीपेट्री थियेटर' भी कहा जाता है। पारंपरिक रंगमंच में दर्शक 'पैसिव' होता है, किन्तु 'थियेटर ऑफ द ओप्रेस्ड' में दर्शक 'एक्टिव' भूमिका में होता है। *"Actor approaches the oppressed group, contact with their problems in order to raise awareness of the causes and the potential to overcome those causes as well as engaging the public in analysis there problem and search for their own solution as a way to attempt change."* असल में बोवाल की यह तकनीक दर्शक, कलाकारों के अंतरसंवाद की, अन्तरक्रिया-प्रक्रिया, अंतर सक्रियता की तकनीक है।

'ओप्रेस्ड' समूह समाज का यह रंगमंच एक ऐसा माध्यम है जो समाज में परिवर्तन लाने का कार्य करता है जो समाज के सर्वांगीण मुद्दों को स्पर्श करता है, जिससे 'सफरर' समाज की सहभागिता अधिक मायने रखती है। अब यह पद्धति स्कूल-कालेज में भी शिक्षा पद्धति के रूप मे अपनाई जा रही है। इसके अलावा 'थियेटर ऑफ द ओप्रेस्ड' एक 'थियेटर पेडोगोगी' (शिक्षा पद्धति) के रूप में भी मान्यता पा रहा है। यूनेस्को, यूनिसेफ, क्राय जैसी विश्वस्तरीय संस्थाएं भी अपनी वैश्विक परियोजनाओं में 'थियेटर ऑफ द ओप्रेस्ड' को शामिल कर रही हैं। योरोप में समाज परिवर्तन के एक प्रभावी माध्यम के रूप में इस रंगमंच को स्वीकारा जा रहा है।

इस रंगमंच के तहत कलाकारों द्वारा समस्याओं से संबंधित शोध कराया जाता है। शोध के आधार पर सामूहिक तौर पर नाट्यालेख तैयार किया जाता है। अथवा उसे 'इंप्रोवाइज़' किया जाता है। कई बार यह 'इंप्रोवायज़ेशन' 'टारगेटेड सोसायटी' अथवा समूह के साथ भी किया जाता है। सहभागिता के तत्व के आधार पर नाटक का निर्माण एक रचनात्मक प्रक्रिया होती है। इसमें कलाकार और दर्शकों में 'संवाद' स्थापित करना महत्वपूर्ण माना जाता है। इस संवाद के आधारपर समस्या की जड़ों तक पहुंचना, समस्या को पहचानना और समस्या का समाधान प्राप्त करने हेतु प्रयास करना, यह इस रंगमंच के अंतर्गत प्रक्रिया होती है। कई बार नाटयालेखन अभाषिक (Non-verbal) भी हो सकता है। परंतु मूल प्रक्रिया यहां कायम रहती है।

■■■

अनुभूति और अनुभव

- नाट्यानुवाद-नाट्य रूपांतरण प्रक्रिया - मेरे अनुभव
- 'अंधेरे में' - निर्देशन की अनुभूति

नाट्यानुवाद-नाट्य रूपांतरण प्रक्रिया - मेरे अनुभव

नागपुर दूरदर्शन के लिए १९९१ में प्रेमचंद की ९ कथाओं पर एक लघु श्रृंखला तैयार करने का कार्य तत्कालीन केंद्र निर्देशक मीना वैष्णवी द्वारा मुझे सौंपा गया। अनुवाद, नाट्य रूपांतर तथा निर्देशन का अमूल्य अवसर इस माध्यम से मुझे मिला। यह मेरे लिए पहला मौका था, अनुवाद तथा रूपांतरण कार्य को नज़दीक से जानने का।

असल में इसके पूर्व भारत के कई प्रसिद्ध शायरों की शायरी का संपादन तथा रूपांतरण मैंने 'मेरा शहर मुझे वापस लौटा दो' तथा 'मेरी आवाज़ सुनो' जैसे एकल नाट्य मंचन हेतु किया था। जिसके सैकड़ों मंचन रंगकर्मी रमेश लखमापुरे तथा बंड्या साने द्वारा किए गए। पहली बार 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस' (मोहन राकेश), 'द क्रॉस पर्पज़', 'द जस्ट' (अल्बेर कामू), 'द फादर' (ऑगस्टीन स्ट्रींडबर्ग) आदि नाटकों का अनुवाद किया था। वैसे इसके पूर्व प्रेमचंद की 'खूचड़', 'दरोगाजी', 'सती', 'प्रेम का उदय' आदि कहानियों पर दूरदर्शन हेतु अनुवाद और नाट्य रूपांतरण का काम भी किया। इसी अनुभव के आधार पर अब तक 'नत्था खड़ा बाजार में' (श्रीकांत सर्राफ), 'एक बार फिर गोदो' (भगवान हिरे), 'हे राम' (प्रेमानंद गज्वी), 'दर्शन' (श्याम मनोहर), 'वह गंदी गाली' (मैक्सिम गोर्की)' 'द स्लेव' (लेरोये जोन्स), 'द म्युलेटो (लेन्गास्टन ह्यूजेस), 'रेज़िन इन द सन' (लॉरेन्स हेन्बसरी), 'एन इंस्पेक्टर्स काल' (जे.बी. प्रिस्टले) और 'वे आगे निकल गए' (मकरंद साठे), 'द साईटलेस' (मॅसिस मेंटारलींक) आदि नाट्यानुवाद तथा 'उद्याचा संसार' - प्र.के. अत्रे (संपादित), 'मृच्छकटीकम' - शूद्रक (संपादित), मराठी उपन्यास 'ती येते आणिक जाते' (कमल देसाई) का रूपांतरण का कार्य करने का अनुभव प्राप्त हुआ।

मूलत: जब-जब मैंने अपने आप को रंगमंच के व्यवहार में खोजने की कोशिश की, तब-तब यह तो निश्चित हो जाता था कि मेरी अभिव्यक्ति का माध्यम अंतत: नाट्यकला-रंगमंच के अलावा दूसरी कोई कला नहीं हो सकती है। अभिनय, प्रबंधन, संगठन, लेखन, निर्देशन, अनुवाद, रूपांतरण, संपादन के साथ समय की आवश्यकता के अनुसार मंच विन्यास, प्रकाश विन्यास, संगीत संयोजन, रूप-वस्त्र विन्यास आदि रंगमंच की सभी इकाइयों के साथ काम किया। शौकिया रंगमंच पर यह सब करना पड़ता है। पर अंतत: निर्देशन ही मेरा असल क्षेत्र है। वही मेरे अंदर की आवाज है, यह जब सिद्ध हो गया, तब कई सालों बाद यह खोज पूरी हो गई। अब नाटकों का

अनुवाद, रूपांतरण, संपादन अथवा पुनर्लेखन भी निर्देशक के रूप में होता है। अब कोई भी कविता, कहानी, उपन्यास, आलेख अथवा अन्य भाषी नाटक पहले मेरे अंदर छिपा निर्देशक पढ़ता है। अगर इस निर्देशक को यह कोई भी विधा प्रभावित कर पाई, तो उसकी रंगमंचीय यात्रा की प्रक्रिया शुरू होती है। और फिर यह अनुवाद, रूपांतरण कार्य दृश्यरूप लेना शुरू कर देता है। आज जब मैं अपने अनुदित नाटक पढ़ता हूँ तो मुझे साफ नज़र आता है कि अनुवाद - रूपांतर करते समय मेरे सामने रंगमंच होता है। इस रंगमंच पर मूल नाटक अपना परिवर्तित रूप धारण करता है। किसी एक अनुवाद या रूपांतरण का रंगमंचीय होना एक अच्छे मंचन की आवश्यकता भी होती है।

'आषाढ़ का एक दिन' साहित्य और नाटक के रूप में एक महान नाटक है। हिंदी से मराठी अनुवाद करते समय उसकी भाषा और नाट्यभाषा का व्याकरण, उसमें छिपे बिंब-प्रतिबिंब, उसकी काव्यात्मकता को अक्षुण्ण रखना, काल और अवकाश (टाईम एंड स्पेस) को सहेज कर रखना, चरित्र और देशकाल को स्थापित करना अनुवाद में सबसे बड़ी चुनौती थी। दर्शक और आलोचक की प्रतिक्रियाओं के आधार पर मैं यह कह सकता हूँ कि मराठी भाषा में 'आषाढ़ एक दिन' को मूल रूप में बनाये रखने में अन्ततः मैं सफल हुआ। यही अनुभव 'लहरों के राजहंस' के साथ भी घटित हुए। मुझे लगता है किसी कृति का अनुवाद बगैर उसमें मानसिक और भावनात्मक रूप से सम्मिलित हुए सफल नहीं हो सकता। 'आषाढ़ एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' यह दोनों नाटक मेरे साँसों में और रग-रग में बसे हैं। लहरों के राजहंस यह नाटक तो 'आषाढ़ एक दिन' से भी कठिन है। यह बहुआयामी, बहुकेंद्रित नाटक लगता है। पर असल में 'अत्त दीप भव' के संदेश पर यह नाटक केंद्रित है। इसे अनुवाद में पकड़ना कठिन था। 'बिटवीन द लाईन्स' को समझना और शब्दों में कायम करना चुनौती भरा कार्य था। आज मैं अपने अनुवाद से एक निर्देशक के रूप में संतुष्ट हूँ।

मोहन राकेश और अल्बेयर कामू मेरे पसंदीदा नाटककार हैं। ! 'कालिगुला', 'द जस्ट', 'द क्रॉर्स पर्पज़' ये सब मेरे पसंदीदा नाटक हैं। इसमें से मुझे द जस्ट, द क्रॉस पर्पस का अनुवाद करने का अवसर मिला है। 'क्रास पर्पज़' नाटक एक अस्तित्ववादी त्रासदी है। अनज़ाने में माँ तथा बहन द्वारा अपने ही पुत्र और भाई की हत्या कर देना, इस नाटक का केंद्रबिंदु है। किंतु इसके बाद जो अस्तित्ववादी विचार नाट्यरूप लेकर आता है वह इस नाटक का चरमोत्कर्ष है। अनुवाद से उसे उतना ही प्रभावी बनाये रखना आवश्यक है। और बगैर नाट्यदृष्टि के यह संभव नहीं हो सकता था।

अब नाटक के अनुवाद और रूपांतर का जितना भी अनुभव प्राप्त हुआ है, उसके आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस प्रक्रिया में मूल नाटक की रूह तथा लेखक के कथ्य के साथ उसकी प्रभावशीलता कायम रहनी चाहिए। हर नाटक के पीछे नाटककार की प्रेरणा, उद्देश्य और विचार होता है। इसके अलावा कुछ नाटककार रंगमंचीय दृष्टि से आग्रही होते हैं। इन दोनों स्थितियों में अच्छे अनुवाद या रूपांतरण की जगह बनाना कुशलता का कार्य होता है। लेकिन श्याम मनोहर (दर्शन), भगवान हिरे (एक बार फिर गोदो), प्रेमानंद गज्वी (हे राम), कमल देसाई (ती येते आणिक जाते), मकरंद साठे (और वे आगे निकल गए) आदि लेखकों ने मेरी क्षमता पर विश्वास रखा और अनुवाद को सराहा भी। मुक्तिबोध की कविता 'अंधेरे में' भी मेरे लिए एक चुनौती थी। मेघा आचार्य के अनुवाद का रूपांतरण का कार्य मेरे लिए सर्जनशील कार्य रहा। पुनर्निर्माण की प्रक्रिया का अनुभव भी मुझे इस माध्यम से प्राप्त हुआ।

इन सभी नाटकों के पुनर्निर्माण का विशेष सृजनशील अवसर मुझे मैक्सिम गोर्की के नाटक 'द लोवर डेप्थ' से मिला। १२० साल पहले लिखा गया यह नाटक आज भी प्रासंगिक है। आज तक इस नाटक पर विश्व में छह फिल्में भी बन चुकी हैं। इन निर्देशकों में एक नाम अकीरा कुरोसावा (विश्व प्रसिद्ध सिनेमा 'राशोमन' के निर्देशक) भी है। भारत में चेतन आनंद इस पर 'नीचा नगर' नामक फिल्म का निर्माण कर चुके हैं। मूलतः इस नाटक का मराठी भाषानुवाद डॉ. मेघा पानसरे ने 'तळघर' नाम से किया है। इस नाटक की प्रासंगिकता को ध्यान में रखकर मैंने इसका भारतीय परिवेश में रूपांतरण और फिर हिंदी अनुवाद करने का निर्णय लिया। उस समय यह नाटक पूंजीवाद के खिलाफ़ लिखा गया था। किंतु मैंने इसे भूमंडलीकरण के परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत किया है। जब यह नाटक भारतीय देशकाल और परिवेश में प्रस्तुत करना था, तो सभी राज्यों से प्रातिनिधिक चरित्र आना ज़रूरी था। मूल रशियन चरित्रों के स्थान पर बिहारी, मराठी, हैदराबादी, गोवन, कोल्हापुरी, बंबइया, भोजपुरी, बंगाली, ओडिया भाषिक चरित्रों का निर्माण किया। इसके साथ उनकी भाषा, उच्चारण, शैली, सोच, संवाद आदि सभी इकाई को भाषिक विशेषताओं के साथ प्रस्तुत किया। रूपांतरण में आपको यह सर्जनात्मक आज़ादी मिल सकती है, जिसका उपयोग मैंने इस नाटक के सदंर्भ में किया। सिमोन द बुवा की लघु आत्मकथा 'वेरी इजी डेथ' तथा प्रसिद्ध लेखिका चित्रा मुद्गल का बहुचर्चित उपन्यास पो.बा.न. २०३ नालासोपारा अब मेरे समक्ष है। एक बेचैनी भरी अनुवाद की यात्रा जारी है। मूल आत्मकथा सरल सपाट है पर एक निर्देशक के रूप में भरपूर नाट्यात्मक, प्रयोगधर्मिता मुझे उसमें दिखाई देती है। सिमोन के अनुभव बिंब रूपों में आते हैं। माँ-बेटी का रिश्ता विश्व

परंपरा से अलग दिखाई देता है। पो.बा.नं. २०३ नालासोपारा की कहानी माँ-बेटे के रिश्ते की झकझोर देनेवाली कहानी है। बेटा तृतीयपंथी है। एकल निवेदन से इस कथा को बहुकेंद्री बनाना है। पर मुख्य केंद्र में ही यह अनेक केंद्रों को बुनना है।

आज तक की मेरी रंगयात्रा में जितने भी नाटकों का मैंने अनुवाद अथवा रूपांतरण किया, उसके आधार पर मैं यह कहना चाहता हूँ कि इन सभी नाटकों में छिपी नाट्यात्मकता ने मुझे पहले प्रभावित किया। यही प्रभाव निर्देशन कार्य में सहायक सिद्ध हुआ। आज भी कई नाटक, फिल्म, कविताएँ, आलेख, कहानियाँ चुनौती के साथ मेरे समक्ष खड़े हैं। जिनका मैं अनुवाद, रूपांतरण, संपादन कर मंचन करना चाहता हूँ। जिसमें मंटो की कहानियाँ, साहिर की नज़्म, गजलें, अकिरा कुरोसावा कि फिल्म 'राशोमान', स्टीफन हॉकिंग की जीवनयात्रा आदि कालजयी कृतियाँ हैं।

■■■

'अंधेरे में' - निर्देशन की अनभूति

हिंदी के प्रसिद्ध कवि गजानन माधव मुक्तिबोध की 'अंधेरे में' यह सर्वाधिक चर्चित कविता है। यह संज्ञा प्रवाह *(Trans)* की कविता है, जिसमें एक गहन, गंभीर नाट्यात्मकता निहित है। जिसे नाटक के रूप में अभिव्यक्त करना, एक चुनौती भरा कार्य था। मैं जब भी यह कविता पढ़ता, या कोई इसका कविता पाठ करता तब मैं उसमें छिपे नाट्यात्मक मूल्यों से प्रभावित हो जाता था और दृश्यरूप में उसका परिवर्तन नाटक के रूप में करने के लिए उद्यत हो जाता। कई वर्षों से यह कविता ज़हन पर छायी थी। अंत में उसे नाटक के रूप में मंचित करने की ठान ली।

एक कठिन कविता का नाटक बनाना था। कई चरित्र, विविध नाट्यमय स्थितियाँ इसमें थी। किंतु मूल कविता में बिखराव, विखंडन बहुत है। कई शब्द, पंक्तियाँ बोधगम्य प्रतीत नहीं होती, परंतु उसकी अनुभूति मन को अस्वस्थ कर जाती। मुक्तिबोध बहुत कुछ कहना चाहते हैं, परंतु अपनी पद्धति से, अपनी शैली में। तथ्य, कथ्य और आशय को दृश्य रूप से मंचित करना, एक उलझी हुई प्रक्रिया थी। मुक्तिबोध के मन की बात लेकर उसे अभिव्यक्त करना आवश्यक था।

'अंधेरा' मतलब अवस्थाएं, अंधेरा मतलब दुःख, दर्द, समस्या, शोषण, गतिहीनता, जिसमें से निकल कर प्रकाश की ओर जाना है। यहाँ अंधेरा मुक्तिबोध का अपना अनुभव है, अनुभूति है, जो कई घटनाओं की प्रतिक्रिया है। जो कई बिंबों को लेकर उभरती है। विविध ध्वनियाँ हैं जो इन प्रतिक्रियाओं की शक्ति है। यह सारी प्रतिक्रियाएँ सर्जनशीलता की अभिव्यक्ति हैं। वे एक सर्जनशील, संवेदनशील समूह के प्रतिनिधि हैं। बौद्धिक, वैचारिक वर्ग के प्रतिनिधि हैं। फासिज़म, आतंकवाद, शोषण, भ्रष्टाचार, नैतिकता छोड़ चुकी राजनीति, क्रूर प्रशासन, अभिव्यक्ति की आज़ादी का दमन आदि अराजकता के विरूद्ध यह कविता विद्रोह करती है।

शब्द और ध्वनि की यह एक चित्रमालिका है, जो गहन-गंभीर संज्ञा का प्रतीक है। उसे 'नाट्यभाषा' में पकड़ने का प्रयास मैं करता रहा। अभिनेता के लिए संपूर्ण कविता को उसके आशय के साथ रटना, याद करना असंभव जैसा कार्य है। खैर शब्द रट लेना आसान भी हो सकता था, पर उसे उसके अर्थ के साथ, हावभाव के साथ, अभिनीत करना कठिन था। मैंने शब्दों से परे जाकर आशय पर ध्यान केंद्रित करने को अपने अभिनेता को कहा। अक्षय सुभाष एक नये अभिनेता थे। परिश्रमी भी थे। पर कविता के नाटक से अनभिज्ञ थे। मराठी परिवेश के थे, मुक्तिबोध को समझना, उनकी कविता को समझना, कविता के अर्थ को, शब्द को, ध्वनि को,

कविता के व्यवहार को समझना तो उनकी सीमाओं से परे था। पर तीन माह के अथक परिश्रम मेरे अक्षय को सार्थक कर दिखाया।

मुक्तिबोध के शब्दों से उसे खेलने को कहा, शब्दों से दोस्ती करने को कहा, उनके आकलन को बार-बार लिखने को कहा। कविता में छिपे 'अंतस्वर' को खोजने के लिए कहा। शब्दों की छटाएं उनके बदलते 'मूड्स' को पकड़ने के लिए कहा। आघात, स्वर-विराम, आरोह, अवरोह, लय-ताल, मौन, विराम के साथ 'एक्सप्रेशंस' को दोहराने को कहा। अपनी सीमाओं के पश्चात अक्षय सुभाष ने मेरे निर्देशों को पठन करने का प्रयत्न ईमानदारी से किया। यह एक प्रकार की 'अभिनय कार्यशाला' ही थी। अभिनेता, निर्देशक की सर्जनशील प्रक्रिया की यह यात्रा थी। 'एकल' अभिनय की मर्यादाओं के देखते हुए मैंने कविता में व्याप्त दृश्य रूपों को अलग-अलग टूकड़ों में बांटा, जिसके चलते आठ दृश्य मिले, जिसे 'संवादात्मक नाटक' में परिवर्तित किया। जिसके कारण नाटक अधिक सुदृढ़, सरल होता गया। (अर्थात् यह मेरी धारणा हैं)

वास्तव में मित्रों ने उसको 'नाटक' के रूप में रूपांतरित करने का आग्रह किया। परंतु मैं कविता का नाटक नहीं बल्कि 'काव्यनाटक' को मूल कविता के साथ प्रस्तुत करना चाहता था। जो वास्तव में एक नाटक के रूप में जोखिम (रिस्क) ही थी, पर उस जोखिम को मैं स्वीकारना चाहता था। यह मेरा प्रयोग था, जो मुझे करने के लिए मूल कविता ही बाध्य करती रही। अभिनय के साथ प्रकाश विन्यास, मंच विन्यास और संगीत सबसे अहम भूमिका में थे। 'अंधेरे में' असल में यह प्रकाश और अंधेरे का युद्ध है। वे दोनों इस नाटक के चरित्र हैं। सामान्य भाषा में प्रकाश 'नायक' है तो अंधेरा 'खलनायक' है। यह दो स्थितियाँ हैं, जिसका खेल *(Game)* प्रकाश विन्यास के माध्यम से दिखाना था। यह दोनों चरित्र के रूप में मैं दिखाना चाहता था, जिसे प्रकाश विन्यासकार, सौरभ संतोष गुप्ता ने बखूबी समझा। वे एक परिवक्व प्रकाश विन्यासकार हैं। उन्होंने अपने लाईट्स से यह कर दिखाया। साथ ही प्रकाश की मोनोटोनी को भंग करने के लिए तीन रंगों (लाल, नीला, पीला) का औचित्यपूर्ण प्रयोग भी किया। 'कटलाइट्स' भी इस खेल में अपनी अर्थपूर्ण भूमिका निभाते रहे।

'निर्देशक' अंततः तंत्र के योग्य, परिपूर्ण प्रभाव की अपेक्षा अपने तकनीकी पक्ष से सरोकारित होता ही है। प्रकाश योजना के साथ संगीत निर्देशक आलोक निगम ने भी मेरे 'शब्द और ध्वनि' की चित्रमाला की अपेक्षा को ध्वनि दृश्य रूप प्रदान किया। नाटक में व्याप्त शब्द, शब्दों के ध्वनि, कविता में यंत्र-तंत्र बिखरे भौतिक ध्वनि, संज्ञाप्रवाह के प्रतीक बने स्थितियों के ध्वनि को आलोक ने लंबी सूची के साथ ध्वनिबद्ध किया। साथ ही पंचतत्व *(Five Elements)* के मूड को इस ध्वनि के साथ

जोड़ दिया। मूलतः मैं मुक्तिबोध की कविता के पंचतत्वों की अंतर्गत अभिव्यक्ति ही मानता हूँ। वायु, जल, अग्नि, पृथ्वी, आकाश यह केवल तत्व नहीं तो सर्जक ध्वनियाँ भी हैं। इन सारी ध्वनियों को 'संज्ञा' के कोष से जोड़ना जरूरी था। स्थितिनुरूप 'सिंफनी' का प्रयोग भी ठहराव को अर्थ देता रहा। मंच विन्यास के रूप में एक काली गुफा, ब्लैक होल अथवा मकड़े के जालों में उलझी ज़िदंगी यह मेरी परिकल्पना थी, जो संपूर्ण काले परदों और रेडियम से बने जालों के माध्यम से प्रभावी रूप से दृष्टिगोचर हुई।

इस काव्य नाटक में नाटक यथार्थ से अतियथार्थ में परिवर्तित होता है। शब्द और ध्वनि चरित्र बन जाते हैं। संज्ञा भी रूप धारण करती है। 'निःशब्द' स्थितियाँ अस्वस्थता पैदा करती हैं। शब्दों का जंजाल, शारीरिक कृति विसंगतियों के साथ विखंडन को जन्म देती है। विखंडन भी कविता का मूड है, जो ठहराव के साथ नहीं बल्कि बिखराव के साथ उपस्थित होता है। एक निर्देशक के रूप में मैं कविता में छिपे मुक्ति के क्रोध को चित्रित करने का प्रयत्न करता रहा हूँ। 'नाटयरूप' की विविध संभावनाओं की यह खोज थी। स्पेस (अवकाश) का अनुभव देने का काम यह काव्यनाटक करता है। आपने 'स्वत्व' *(Self)* से आप सत्व *(Essence)* की ओर जा सकते हैं। आपके 'अंतस्वर' *(Inner Voice)* आपको इस नाटक के अंतस्तर *(Inner levels)* तक ले जा सकते हैं। अंतर्गत दृश्य रूप और बाह्यगत दृश्यगत दृश्यरूप की एकात्मता को साकार करने का अवसर यह काव्य नाटक देता है। निर्देशक के रूप में 'अंधेरे में' कई अनुभव था, एक अनुभूति थी मेरे लिए जो 'रंगकर्म' में बहु विशेषताओं से भरी थी। यह एक सर्जनशील प्रक्रिया थी, जिसने व्यक्तिगत स्तर भी मुझे प्रभावित किया है।

'अंधेरे में' रचना के रूप में एक कालजयी कृति है। 'अभिव्यक्ति' की उसकी आत्मा आज भी 'रिलेवंट' है। अभिव्यक्ति से परम अभिव्यक्ति का साक्षात्कार यह कविता कराती है। 'व्यष्टि' से समष्टि की यात्रा इसमें दृष्टिगोचर होती है। मैं अंत में 'हम' हो जाता है। आत्म शोध से शुरू यह यात्रा युगीन यथार्थ का बोध कराती है। तिलिस्मी खोह सामाजिक यथार्थ में बदल जाता है। कवि की जुगाली विद्रोह का रूप ले लेती है। अस्तित्ववाद का बोध, आधुनिकता का बोध भी इस कविता की विशेषता है। राजनीतिक बोध भी हम यहाँ देख सकते हैं। एकालाप में शुरू यह अभिव्यक्ति अंततः अनेकालाप में बदल जाती है। गांधी, तिलक, शिशु, सेना, सैनिक, पत्रकार आदि संदर्भ कवि की निजता को तोड़कर यथार्थ को स्थापित करते हैं। संत्रास को विद्रोह में बदलते हम देख सकते हैं। पर यह विद्रोह भड़कीला नहीं है। 'अभिव्यक्ति के खतरे उठाने होंगे' की बात मुक्तिबोध संयत तरीके से कहते हैं। बस

एक निर्देशक के रूप में मुझे मेरा मंतव्य और गंतव्य दिखाई देने लगता है। यह एक संयत प्रक्रिया भी है।

मेरी रंग कल्पना यही से शुरू होती है। कविता का रंगरूप कायम रख उसे नाटयात्मक दृश्यों में तब्दील करना मेरी प्राथमिकता थी। यह पारंपरिक नाट्य रूपांतर नहीं था बल्कि नाट्यात्मकता का रूपांतर था, जो कविता को बचाए रखने का मेरा उद्देश्य, मेरी कोशिशें कायम रखने में मुझे मददगार साबित हुई। समकालीन संभावनाओं की यह मेरी कोशिश भर थी। कविता की मौलिकता को कायम रखकर ही मैं यह प्रयोग करना चाहता था। मूल रचना की आंतरिक शक्ति, उसकी मूल संवेदना, उसके अंतः सौंदर्य की संप्रेषण शक्ति से जोड़कर और अधिक प्रभावशाली सशक्त रचना के रूप में, मैं इस कविता को प्रस्तुत करना चाहता था। असल में एक निर्देशक के रूप में रूपांतर की यह प्रक्रिया मेरे निर्देशक प्रक्रिया का मूलाधार रही। संवेदनात्मक मानसिकता का मुझे निश्चित तौर पर लाभ हुआ। जिससे रंगमंचीय परिमाणों और परिणामों को तय करने का मैंने साहस किया। 'कविता' ही मेरे लिए कथावस्तु थी। अंधेरे की यह कथा मेरी सामग्री थी। जिसको रंगमंचीय परिभाषा में प्रस्तुत करना था। आत्मकथात्मक, आत्मकाव्यात्मक या आत्मनाटक की श्रेणी में इस नाटक को रखा जा सकता है। पर यह भारतेंदु की 'आत्मनाटक' की परिकल्पना से अलग है। उन्होंने नाटकीय तत्व के रूप में 'आत्मनाटक' की व्याख्या की। मुक्तिबोध की यह कविता आत्मपरक है, पर समष्टिपरकता उसकी सर्वाधिक बड़ी विशेषता है। इसी तत्व को मैंने विस्तार देने का प्रयत्न मात्र किया है।

कविता को नाट्यरूप में ढालने की कोशिश कितनी सफल अथवा असफल हुई इसका निर्णय तो मैं भी नहीं कर सका हूँ। दर्शकों के लिए यह एक बोरियत भरा यथार्थ हो सकता है। दर्शकों के स्तर पर उसे ख़ारिज भी किया जा सकता है, पर इससे प्रयोगधर्मिता का पक्ष उपेक्षित हो सकता है। आम तौर पर ऐसे प्रयोगों को अधिक मनोरंजक, नृत्य-नाट्य या समूह शैली में प्रस्तुत किया जाता रहा है। पर आप यह नहीं करेंगे तो ऐसे प्रयास मूर्खताभरे माने जा सकते हैं। तो क्या इसे शून्य से शुरू और शून्य पर खत्म होने वाला रंगकर्म माना जाए। या प्रयोगधर्मिता की दिशा में की गयी पहल? अब ऐसे सवाल मेरे लिए बहुत मायने नहीं रखते हैं। सर्जनशीलता की प्रक्रिया का अनुभव, आनंद इस रंगकर्म ने मुझे अवश्य दिया है। जाने अनजाने स्तानिस्लावस्की, मेयरहोल्ड, ग्रोतोवस्की, ब्रेख्त, अंतोनीन आर्तो, रिचर्ड शेरवनर आदि सारे महानुभाव मुझे मदद करते रहे। यह मेरे निर्देशन की यात्रा में एक न भूलाये जाने वाले क्षण है। 'अंधेरे में' असल में एक प्रकाश यात्रा है, जिसका यात्री बनने का अवसर मुझे नाटक के माध्यम से मिला है।

■■■

प्रतिरोध की सर्जना

- हिन्दी के नारीवादी नाटकों में प्रतिरोध
- मराठी स्त्री कलाकारों का सर्जनात्मक प्रतिरोध
- नुक्कड़ नाटक : प्रतिरोध से प्रचारतंत्र तक

हिंदी के नारीवादी नाटकों में प्रतिरोध

वैसे तो हिंदी नाटकों में नारीवाद के स्वर का प्रथम साक्षात्कार जयशंकर प्रसाद के 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में स्पष्ट रूप से सुनाई देता है। इसे नारीवाद का एक 'प्रमेय' नाटक भी कहा जा सकता है। ध्रुवस्वामिनी का विद्रोह असल में एक नारीवादी विद्रोह ही है। ध्रुवस्वामिनी नाटक के संवादों से यह स्पष्ट हो जाता है। भारत में नारीवादी आंदोलन शुरू होने से पहले, जयशंकर प्रसाद ने नारीवादी विचारों की अभिव्यक्ति इस नाटक के माध्यम से की है। यह बात विशेष गौरतलब है।

साठ के दशक के बाद में भारत में 'नारीवाद' एक रचनात्मक आंदोलन के रूप में उभरा। पश्चिमी हवा ने उसे अधिक प्रभावित किया। लेकिन साथ में हमारे इतिहास में, हमारे मिथकों में, हमारे सामाजिक आंदोलनों के परिप्रेक्ष्य में नारीवाद को खोजा जाता रहा। नारीवादी विचारों से उसे जोड़ा जाता रहा, उसकी समीक्षा की जाती रही। भगवान गौतम बुद्ध, महात्मा कबीर, ज्योतिराव फुले, सावित्रीबाई फुले, ताराबाई शिंदे के विचारों में, कार्यो में नारीवाद देखा जाने लगा। तो कभी महाभारत के 'शाल्व-अम्बा' की कहानी हो या फिर कभी 'माधवी-गालव' की कथा हो। इसके अलावा 'इला', 'द्रौपदी', 'सीता', 'अहिल्या' के चरित्रों में नारीवादी परिप्रेक्ष्य खोजा जाने लगा। लोककथाओं में व्याप्त नारीवाद के स्वर भी नाटकों में महसूस किये जाने लगे। 'नागमंडल', 'जस्मा ओड़न', 'हयवदन', नाटकों के माध्यम से नारीवाद के स्वर मुखर होने लगे। 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक', 'देहान्तर' जैसे नाटकों में मिथक आधुनिकता के दृष्टिकोण से प्रयुक्त होने लगे। मुख्य धारा के हिंदी रंगमंच के साथ नारीवादी आंदोलन के हथियार के रूप में नाटकों की गतिविधियों को बढ़ोतरी मिली। नुक्कड़ नाटक, प्रतिरोध का नाटक, नारीवादी रंगमंच का नाटक पुरुष और महिला दोनों नाटककारों की कलम और सोच से प्रस्तुत होते रहे।

इस प्रक्रिया में विशेष रूप से हिंदी नाटकों में जिन नाटकों ने असल में अपना विद्रोही स्वर प्रस्तुत किया, उन नाटकों में 'बिन दीवारों का घर' (मन्नू भंडारी),

एक और अजनबी (मृदुला गर्ग), 'इला' (प्रभाकर क्षोत्रीय), 'सन सत्तावन का किस्सा' अजिजुन्निस्सा (त्रिपुरारी शर्मा), 'सुनो शेफाली' (डॉ. कुसुम कुमार), 'माधवी' (भीष्म सहानी), 'कर्फ्यू' (डॉ. लक्ष्मी नारायण लाल), 'योर्स फैथफूली' (मुद्राराक्षस) जैसे मुख्य धारा के कुछ नाटकों का विशेष रूप से उल्लेख करना आवश्यक है। प्रारंभिक दौर में इब्सेन के नाटकों का प्रभाव, पश्चिमी आधुनिकता का प्रभाव, नारीवादी आंदोलनों का प्रारंभ आदि के कारण हिंदी रंगमंच भी प्रभावित होता रहा। इब्सेन के 'डॉल्स हाउस' नाटक ने योरोप में नारीवाद की सोच का प्रथम रंगमंचीय दर्शन प्रस्तुत किया। यह नारीवाद का पहला शंख नाद माना जाता है। भारतीय रंगमंच को इब्सेन और उसके 'डॉल्स हाउस' नाटक ने काफी प्रभावित किया। मन्नू भंडारी के 'बिन दिवारों का घर' नाटक पर 'डॉल्स हाउस' का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। 'डॉल्स हाउस' का विद्रोह इस नाटक में मन्नू भंडारी ने कायम रखा है। बिम्ब, शैली, कथ्य, तथ्य, आशय, सभी दृष्टिकोण से 'डॉल्स हाउस' की छाप इस नाटक पर स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

'डॉल्स हाउस' की नोरा का विद्रोह दुनिया में नारीवाद की घोषणा मानी जाती है। इसी नोरा का विद्रोह 'बिन दीवारों का घर' की नायिका में दिखाई देता है। इसके अलावा नारीवादी विद्रोह के स्वर मुखर करनेवाले कई नाटक लिखे गये। नारीवाद की अलग-अलग छटाएं (शेड्स) इन नाटकों में देखी जा सकती हैं।

नारी को केंद्र में रखकर नाटक लिखने की परंपरा भारतेंदु हरिश्चन्द्र के 'नीलदेवी' तथा 'सती प्रताप' आदि नाटकों से शुरू हो गई थी। यह दोनों नाटक नारी की पतिव्रता और पति के लिये किये गये शौर्य और वीरता का बखान करते हैं। परंपरागत नारी और उसकी आदर्श छवि को ये नाटक गौरवान्वित करते हैं। समर्पिता, त्यागी, और पति परायणता की मूरत को इस नाटक में स्थापित करने का प्रयत्न भारतेंदुजी ने किया है। पंडित बालकृष्ण भट्ट के 'जैसा काम वैसा परिणाम' तथा 'नल दमयंती' नाटक भारतेंदु नाट्य परंपरा को ही आगे बढ़ाते हैं। राधाकृष्ण दास का 'दुःखिनी बाला' नाटक एक और विधवा के दुःख को सामने लाता है, किन्तु उसके पीछे केवल सहानुभूति का उद्देश्य होता है। दूसरी ओर यही लेखक 'महारानी पद्मिनी' के द्वारा सतीत्व को

गौरवान्वित करता है। पंडित प्रताप नारायण मिश्र अपने 'कवि कौतुक तथा 'हठी हम्मीर' नाटक में दुश्चरित्र और पतिता नारी की कहानी बताते हैं। पर उन्हें दुश्चरित्र और पतिता बनाने वाले सामाजिक, पुरुषसत्ता के कारणों की ओर अनदेखा करते हैं। राधास्वामी गोस्वामी (सती चंद्रावली, अमरसिंह राठोड), लाला श्रीनिवास दास (रणधीर प्रेम मोहिनी, मयंक मंजिरी) आदि नाटकों में नारी केवल आदर्श के रूप में या सहानुभूति के पात्र के रूप में चित्रित की गई है।

किंतु किशोरीलाल गोस्वामी, गोपालराम गहमरी के नाटक प्रेमविवाह, स्वेच्छा विवाह की तरफदारी और अनमेल विवाह का निषेध करते दिखाई देते हैं। इस संदर्भ में 'मयंक मंजिरी', 'विद्या विनोद' नाटक देखे जा सकते हैं। कुल मिलाकर भारतेंदु कालीन नाटक आदर्श भारतीय नारी, वीरांगना, पतिव्रता, त्यागी नारी की छवि को गौरवान्वित करते दिखाई देते हैं।

प्रसादकालीन नाटकों में मात्र विधवा विवाह, अंतरजातीय विवाह, नारी की स्वतंत्रता, स्त्री-पुरुष समता, नारी के अधिकारों की बात दिखाई देती है। जयशंकर प्रसाद का 'ध्रुवस्वामिनी' नारीवादी विद्रोह की एक सटीक अभिव्यिक्ति मानी जा सकती है। "पुरुषों ने स्त्रियों के साथ पशु संपत्ति समझकर उन पर जो अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया, वह मेरे साथ नहीं चल सकता। तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते, नारी का गौरव नहीं कर सकते, तो तुम मुझे बेच भी नहीं सकते।" ध्रुवस्वामिनी द्वारा बोले गये ये संवाद नारीवादी चेतना, नारीवादी विद्रोह को व्यक्त करते हैं। भारतीय नारीवाद के संदर्भ में 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक को एक महत्वपूर्ण दस्तावेज़ माना जाना चाहिए। इसके अलावा जयशंकर प्रसाद ने श्रीदेवसेना, जयमाला, मल्लिका, अलका जैसी विद्रोही नायिकाएं भी हिंदी रंगमंच को दी हैं। प्रसादकाल में हरिकृष्णा प्रेमी के 'शिवा साधना', 'वीरांगना', लक्ष्मी नारायण मिश्र का 'रहस्य', बद्रीनाथ भट्ट का नाटक 'दुर्गावती' आदि नाटक लिखे गए। परंतु नारीवादी चेतना की बजाय पारंपरिक आदर्श नारी के रूप में ही उसे अधिक प्रस्तुत किया गया।

प्रसादोत्तर काल में उदयशंकर भट्ट (विद्रोहिणी अंबा, कमला), उपेंद्रनाथ अश्क (कैद, उड़ान), सेठ गोविंद दास (दलित कुसुम) आदि नाटककारों ने प्रतिबद्धता के साथ नारीवादी चेतना को अपने नाटकों में स्थान दिया। नारी उपभोग की केवल वस्तु नहीं, स्त्री पुरुष समता, स्वेच्छा विवाह का अधिकार,

स्त्रीत्व और दलित्व इस दोहरे शोषण का निषेध आदि नारीवादी तत्व इन नाटकों में दिखाई देते हैं। लक्ष्मीनारायण मिश्र भी अपने कुछ नाटकों द्वारा नारी प्रश्न की चर्चा करते हैं।

स्वातंत्र्योत्तर काल में नारीवादी चेतना, नारीवादी प्रस्फुटन अधिक नाटकों में दिखाई देता है। नौकरीपेशा नारी के प्रश्न 'रातरानी' डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल, 'बिन दीवारों का घर' मन्नू भंडारी, 'योर्स फेथफुली' मुद्राराक्षस आदि नाटकों में रखे गये हैं। नारी स्वतंत्रता तथा स्त्री-पुरुष समता की बात उपेंद्रनाथ अश्क, (अलग-अलग रास्ते), विष्णु प्रभाकर (डॉ. अनिला), विनोद रस्तोगी (नये हाथ), डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल (मादा कैक्टस), मन्नू भंडारी, (बिन दीवारों का घर) आदि नाटककारों ने अपने नाटकों में की है। विवाह संस्था तथा वधुदास्य की चर्चा 'नये हाथ' (विनोद रस्तोगी), 'रेत की दीवार' (राजेंद्र शर्मा), 'देवयानी का कहना है' (रमेश बक्षी) आदि नाटकों में है। स्त्री देह की राजनीति और स्त्री देह से जुड़े नारीवादी विद्रोह के, चेतना के स्वर इन नाटकों में स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं।

दहेज की समस्या पर 'दहेज' (न्यादर सिंह बेचैन), 'सगाई' (शंभु दयाल सक्सेना), छलावा (परितोष गार्गी), अधूरी आवाज (कमलेश्वर) आदि नाटक लिखे गये। परित्यक्ता नारी के प्रश्न 'मादा कैक्टस' (डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल), 'डॉ. अनिला' (विष्णु प्रभाकर) आदि नाटकों में रखे गये। इसके अलावा 'अंधा कुंआ' (डॉ. लाल), 'सूर्य की अंतिम किरण' से सूर्य की पहली किरण तक' (सुरेन्द्र वर्मा), 'कोणार्क' (जगदीश चंद्र माथुर), 'नया समाज' (उदयशकंर भट्ट), 'कर्फ्यू' (डॉ. लाल), 'देवयानी का कहना है' (रमेश बक्षी), 'आधे अधूरे' (मोहन राकेश) आदि नाटकों में स्त्री का प्रतिशोध, उसका विद्रोह, संतानहीनता का परिणाम, अवैध यौन संबंध, नारी स्वच्छंदता और नारीवादी चेतना का संचार, न्यायिक अधिकार की चर्चा आदि नाटकों में की गयी है। अलग-अलग संदर्भ में और परिप्रक्ष्य में नारीवादी विद्रोह के स्वर इन नाटकों में सुनाई देते हैं।

पुरूष नाटककारों के साथ महिला नाटककारों ने भी नारीवादी चिंतन को अपने नाटकों में प्रभावी रूप सें व्यक्त किया है। नारीवादी विद्रोह के स्वर आशापूर्णा देवी (प्रथम प्रतिश्रुति), शांति मेहरोत्रा (ठहरा हुआ पानी, एक और दिन), अलका सरावगी (आठ दिसंबर उन्नीस सौ बानबे), अचला शर्मा (सुबह

होने तक, जड़ें, पासपोर्ट), शीला भाटिया (नादिर शाह, दर्द आएगा दबे पाँव), विमला रैना (आहे और मुस्कान), विद्यावती कांकील (फ्रेम बना तस्वीर), मीराकांत (कंधों पर बैठा अभिशाप), गिरीश रस्तोगी (कितना कुछ एक साथ) मृदुला गर्ग (एक और अजनबी), डॉ. कुसुम कुमार (सुनो शेफाली), त्रिपुरारी शर्मा (सन सत्तावन का किस्सा -अज़िजुन निस्सा), डॉ. सुशीला टाकभौरे (नंगा सत्य) आदि के नाटकों में दिखाई देते हैं। यह सभी नाटक नारीवादी चेतना के, नारीवादी विद्रोह के नाटक हैं।

नारीवादी आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में नारीवादी हिंदी रंगमंच को समझना आवश्यक है। नारीवादी रंगमंच को आंदोलन का रूप देने में त्रिपुरारी शर्मा, लक्ष्मी चंद्रा, क्षमा आहुजा, शशिता चंद्रा, उषा गांगुली, नीलम मानसिंग चौधरी, राणी बलवीर कौर, शैला भाटिया, बी. जयश्री, अरुंधती राजे, एस मालती, सौम्या वर्मा, गौरी दत्ता, नादिरा बब्बर, जे. शैलजा, अनुराधा कपूर, अमल अलाना, शारदा साठे, ज्योति म्हापसेकर आदि महिला नाटककार/निर्देशकों का बड़ा महत्वपूर्ण योगदान है। १९७० में नारीवाद के पक्ष में और नारी के लैंगिक शोषण के खिलाफ़ त्रिपुरारी शर्मा के कई नाटक खेले गये। १९७९ से जन नाट्य मंच ने भी आंदोलन के रूप में नुक्कड़ नाटकों की परंपरा 'औरत' नाटक से प्रांरभ की। महाराष्ट्र में भी स्त्री मुक्ती संघटना ने 'मुलगी झाली हो' जैसे नाटक द्वारा नारीवादी रंगमंच को आंदोलन के रूप में ढाला। बाद में यह नाटक हिंदी रंगमंच पर काफी लोकप्रिय तथा चर्चित हुआ। हिन्दी के मुख्य धारा के रंगमंच में और नुक्कड़ नाटकों के आंदोलन में नारीवादी चेतना और नारीवादी विद्रोह को अभिव्यक्त करने की शुरुवात सही अर्थों में १९७५ के बाद में हुई।

नारीवादी रंगमंच को सक्षम बनाने में नेशनल वीमेन्स थिएटर फेस्टिवल, नेशनल वर्कशॉप ऑन विमेन्स थिएटर, थिएटर फेस्टिवल ऑफ एशियाई वीमेन्स, वाईसिंग ऑफ साइलेंस आदि नारीवादी नाटय समारोह का महत्वपूर्ण योगदान है। स्वामीनाथन रिसर्च फाउंडेशन, समुदाय (कर्नाटक), कलाक्षेत्र (मणिपुर), पृथ्वी थिएटर (मुबंई), स्त्री मुक्ती संघटना (मुबंई), जननाट्य मंच (नई दिल्ली), अलरिप्पू (दिल्ली), रंगकर्मी (कोलकत्ता), रंगयान (मैसूर), पी. पहरल (चेन्नई), नटरंग (दिल्ली) आदि नाट्यसंस्था, संगठनों ने नारीवादी रंगमंच के लिए फेस्टिवल संगोष्ठी, समारोह, कार्यशाला आयोजित कर उसके विकास हेतु उल्लेखनीय कार्य

किया है। प्रस्थापित नारीवादी नाटककारों के अलावा पौली सेनगुप्ता, वर्षा अडिलजा, मंजुला पद्मनाथन, गीना मेहता, दीतांजली श्री, इपिंदर भाटिया, शानोली मित्रा, सुषमा देशपांडे, विनापानी चावला, कैदीसा जैरी आदि महिला नाटककारों ने नारीवादी रंगमंच को आंदोलन का स्वरूप प्रदान किया।

थिएटर इंडिया, सिगल थिएटर कॉर्टली, रंगप्रसंग, भारत रंग, नाट्य रंग, नटरंग आदि पत्रिकाओं ने नारीवादी रंगमंच पर, नारीवादी रंगमंचीय चेतना पर, नारीवादी विद्रोही स्वर पर रचनात्मक साहित्य प्रकाशित किया। शोध, अनुसंधान हेतु सामग्री भी उपलब्ध करा दी। साथ ही अर्पणा धारवाडकर, नीरा अडारकर, माया पंडित, वसुधा डालमिया, कीर्ति जैन, दीपा गहलोत जैसी नारीवादी आलोचक, समीक्षक प्रकाश में आईं। नारीवादी रंगमंच पर काफी कुछ लिखा जाने लगा। मुख्य धारा के नाटकों के साथ नुक्कड़ नाटक, एकल प्रस्तुति, समूह प्रस्तुति, नाट्यपठन, कहानी का नारीवादी रंगमंच, कविता का नारीवादी रंगमंच, प्रयोगधार्मिता के साथ किया जा रहा है। कुछ वर्ष पूर्व मुबंई विश्वविद्यालय के थिएटर अकादमी ने नारीवादी नाटकों के बहुभाषिक नाट्य समारोह का भी आयोजन किया था।

हिंदी रंगमंच में ऐतिहासिक चरित्रों को लेकर नारीवादी दृष्टिकोण से नाटक लिखे गए। जिसमें 'नटी विनोदिनी', 'उमरावजान', सन ५७ का किस्सा, मिथक कथाओं पर आधारित 'सूर्य की अंतिम किरण से' 'सूर्य की पहली किरण तक' , 'देहांत द्रौपदी', 'अंबा', आदि नाटक नारीवादी विमर्श महाराष्ट्र के दृष्टि से चर्चित रहे। समकालीन 'लिंगभाव विमर्श' स्त्री-पुरुष अभिनय की राजनीति इसके अलावा के बालगंधर्व तथा गुजरात के जय शंकर प्रसाद 'सुंदरी' आदि नारी की भूमिका करनेवाले पुरुष अभिनेताओं की अभिनय यात्रा का भी नारीवादी दृष्टिकोण से अभ्यास किया गया।

आतंकवाद, दंगे-फसाद देश का विभाजन आदि प्रश्न भी नारीवादी दृष्टीकोण से देखे गए। बी. गौरी का 'और कितने टुकड़े' देश विभाजन की प्रक्रिया में शोषित नारी के चिंतन को मुखर करता है। महंगाई की मार से नारी जीवन पर पड़ते असर "चुकायें नहीं डोरियों को" जैसा नाटक प्रमुखता से रेखांकित करता है। ये सभी नाटक नारीवादी चेतना और विद्रोह के नाटक हैं।

नारीवाद एक विचारधारा है; एक विमर्श है, जिसमें नारी को सभी मोर्चों पर

सम्मान, न्याय, समानता, स्वतंत्रता और अधिकार देने की पुरज़ोर मांग की गयी है। नारीवाद के अनुसार स्त्री वस्तु नहीं बल्कि व्यक्ति है। उसे सामाजिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। धर्म, परंपरा, ईश्वर, सामाजिक रूढ़ियाँ, लिंगभेद के आधार पर उसे दोयम स्थान पर नहीं रखा जाए। किसी भी प्रकार की हिंसा से नारी को पीड़ित नहीं होना चाहिए। संविधान के मूलभूत अधिकार उसे मिलने चाहिए। नारी के देह का व्यापार, और नारी-देह की राजनीति करना नारीवाद निषिद्ध मानता है। निर्णय, स्वेच्छाधिकार, समान अवसर, अभिव्यिक्ती स्वतंत्रता भी नारीवाद की महत्वपूर्ण मांगे हैं।

नारीवाद पितृसत्ता अथवा पुरुषसत्ता व्यवस्था का विरोध करता है। हिंसा, देहव्यापार, ट्रैफिकिंग भी नारीवाद के निशाने पर है। नारी का अस्तित्व, आत्मसम्मान तथा नारी सक्षमीकरण की बात नारीवाद कहता है। नारीवाद की ये सारी विशेषताएं नारीवादी चिंतन-दर्शन को संबल देती हैं। इसी चिंतन-दर्शन ने हिंदी का नारीवादी रंगमंच स्थापित किया है और इस रंगमंच के माध्यम से नारीवादी विद्रोह के स्वर तेज किए हैं। वर्तमान में नारीवादी रंगमंच के सौंदर्यशास्त्र की चर्चा भी की जाने लगी है।

■■■

मराठी स्त्री कलाकारों का सर्जनात्मक प्रतिरोध

नारीवाद की परिकल्पना १९७५ के पश्चात भारत में अवतरित हुई है। किन्तु नारी प्रश्नों को लेकर एक गंभीर पहल सुधारणाओं के परिप्रेक्ष्य में १८४८ में ही की गयी। नारी शिक्षा को लेकर यह पहल की गयी थी। महात्मा ज्योतिराव फुले ने लड़कियों के लिए इसी वर्ष पहली पाठशाला शुरू की। १८५२ के करीब फुले दाम्पत्य द्वारा पूणे जिले में १८ पाठशालाएं शुरू की गयीं। जिसमें २५० लड़कियों को दाखिला दिया गया। इस समय तक सावित्री बाई फुले अध्यापिका, मुख्य अध्यापिका से भारत की एक प्रशिक्षित शिक्षिका बन गयी थी।

इस काल के पश्चात बाल विवाह, सती प्रथा, विधवाओं का विवाह, परित्यक्त स्त्रियों का पुनर्वसन, आदि प्रश्न हाशिये से मुख्य धारा में आए। स्त्री शिक्षा, स्त्री अधिकार,नारी सम्मान के विषय सामाजिक आंदोलनों के मुख्य प्रश्न बनते गए। जिसका प्रभाव रंगमंच के व्यवहार पर भी पड़ता गया। रंगमंच पर स्त्रियों के प्रवेश या उनकी भागीदारी का प्रश्न भी चर्चा का विषय बनता गया। किन्तु सामंतवादी, पुरुषसत्तात्मक व्यवस्था द्वारा उसका पुरज़ोर विरोध होता रहा। सामाजिक, सांस्कृतिक मान्यताएं उन्हें रंगमंच पर जाने से रोकती रहीं।

इस परिस्थिति में भी रंगमंच को लेकर स्त्री वर्ग द्वारा प्रतिरोधी स्वर बुलंद करने का साहस स्त्रियों द्वारा किया गया। मराठी रंगमंच का पूर्वार्द्ध कुछ विद्रोही स्त्रियों के सर्जनात्मक प्रतिरोधी स्वर से दीप्तिमान हुआ है। किन्तु इस इतिहास को मुख्य धारा के इतिहास ने कभी प्रकाश में ही नहीं आने दिया। स्त्री नाटककार, कलाकारों को ६५ वर्ष से भी अधिक वर्ष रंगमंच की दुनिया में आने से रोका गया। मध्यम वर्गीय मानसिकता इस प्रक्रिया का सबसे बड़ा रोड़ा बनी थी। किन्तु शूद्र, दलित, अछूत और बहुजन वर्ग की स्त्रियों ने अपने विद्रोह से न सिर्फ रंगमंच पर प्रवेश किया बल्कि अपने कर्तव्य से एक सुनहरा इतिहास भी लिखा।

इतिहास के पन्नों में हस्ताक्षर बने यह संदर्भ मुख्य धारा के इतिहासकारों ने कभी प्रकाश में आने ही नहीं दिये,किन्तु शनैः शनैः यह इतिहास अब काल की परतों को चीर कर सामने आने लगा है। १८५६ को शूद्र वर्ग के स्त्री कलाकारों ने स्वतंत्र तमाशा कंपनी स्थापित की थी, इस प्रकार के संदर्भ प्राप्त

हुए हैं। १८६७ में महिलाओं द्वारा एक और मिश्र नाटक मंडली की स्थापना की गयी थी। विभूजन चित्त चातक स्वाति वर्षा पुणेकर हिन्दू स्त्री 'नाटक मंडली' यह और एक मंडली का नाम था। यह पहली स्त्री नाटक मंडली थी, जिसकी स्थापना म्हाळसा नामक नटी द्वारा की गयी। इस मंडली में सिर्फ महिलाएं ही थीं। मनोरंजन के साथ यह मंडली बाल विवाह का विरोध, विधवा, परित्यक्ताओं के विवाह का समर्थन, अमानवीय धार्मिक रूढ़ियों का विरोध और सामाजिक सुधारणाओं पर बल देती थीं। इसी नाटक मंडली का सर्वाधिक चर्चित नाटक 'पद्मावती' था, जिसमें एक नाटककार और विद्रोही स्त्री का चरित्र प्रस्तुत किया गया था।

१८६७ में मनोरंजन मुंबई हिन्दू स्त्री मिश्रित नाटक मंडली,यह और एक नाटक मंडली नीराबाई, ताईबाई, विठाबाई, म्हाळसाबाई आदि स्त्रियों ने सहकारी तत्वों पर स्थापित किया। इसके पश्चात माणिक प्रभु प्रसादिक पूर्ण चंद्रोदय सांगलीकर मंडली, सोनी पुणेकरीन तथा कृष्णाबाई द्वारा संचालित की जाती रही। १९०८ तक ये सारी महिला नाटक मंडलियाँ धूम धड़ल्ले से चलती रहीं। खास तौर पर यह सारी महिलाएं शूद्र, दलित, बहुजन (वारांगना, कलावंतीन तवायफ, कोल्हाटीन, नटी) समाज से थीं। क्योंकि सवर्ण समाज में मंच पर आना पापकर्म समझा जाता था, फिर अभिनय अथवा अन्य रंगकर्म तो बहुत दूर की बात थी। १९०८ से १९२५ इस काल में बेळगांवकर स्त्री नाटक मंडली, सातारकर स्त्री नाटक मंडली तथा मनोहर स्त्री नाटक मंडली जो केवल महिलाओं की नाटक मंडलियां थीं, उन्होने पुरुषों द्वारा स्थापित नाटक मंडलियों को टक्कर दी। अपने आप में यह गतिविधियाँ प्रतिरोध का ही सर्जनात्मक स्वर थीं, जिसे भविष्य में लिखे गये इतिहास से गायब कर दिया गया।

जिस समय में महिलाएं घर की दहलीज़ के अंदर ही अपने जीवन का प्रारम्भ और अंत कर लेती थीं, उस समय में मंच पर केवल अभिनय ही नहीं अपितु नाटक मंडली स्थापित करना, विविध नाटकों का संचालन और निर्माण करना, सक्षम आर्थिक स्थायित्व प्राप्त करना, यह अपने आप में बड़ी बात थी। गणिका, वारांगना समाज से आई, हाशिये पर स्थित समाज की ये महिलाएं अपने प्रतिरोध का सर्जनात्मक स्वर अपने-अपने नाटकों में प्रस्तुत कर रही थीं। सामाजिक सांस्कृतिक समस्याएँ उनके मुख्य विषय थे।

बड़ी हिम्मत के साथ इन महिलाओं द्वारा यह प्रयास किए जाते रहे। बेळगांवकर नाटक मंडली एकांबाबाई द्वारा, सारूबाई द्वारा सातारकर नाटक

मंडली स्थापित की गयी थीं। इन सभी स्त्री नाटक मंडलियों ने उस समय प्रसिद्धी और पैसा दोनों कमाया पर सम्मान और प्रतिष्ठा उन्हें नहीं प्राप्त हो सकी।

१९१४ में पहली बार सवर्ण समाज से पहली स्त्री कमलाबाई गोखले को इस रंगमंचीय व्यवहार में शामिल किया गया पर सह प्रबंधक के रूप में। उनके पति द्वारा स्थापित इस नाटक मंडली में उनके पति ने उनकी सह प्रबंधक के रूप में नियुक्ति की थी। इसी समय प्रसिद्ध गायिका तथा नाटककर हीराबाई पेडनेकर ने 'नूतन संगीत नाटक मंडली' की स्थापना की ज़ो मिश्र स्वरूप की थी। १९२९ तक अर्थात् १८६५ से १९२९ तक इन ६४ वर्षों में अभिजन, सवर्ण वर्ग की स्त्रियाँ को रंगमंच पर नहीं आने दिया गया। जबकि समाज से तिरस्कृत तबके से आई महिलाओं ने विद्रोह की लंबी लड़ाई लड़ी। बेळगांवकर नाटक मंडली ने इस विद्रोह का परचम सबसे पहले हाथ में उठाया। इस कंपनी में पुरुषों की भूमिकाएँ भी स्त्रियों द्वारा अभिनीत की जाती थीं। जिसमें शिवाजी, आगरकर, लोकमान्य तिलक जैसे किरदार शामिल थे। इस संदर्भ में मॉडर्न मराठी थियेटर में नीरा आडारकर लिखती हैं कि, *"Danddhari the play, which was produced by womens theatre company, founded by prostitute, almost all this plays on social reforms dealing with womens education, child marriage, love marriges, marrigas of widows, divorsed women, also doweryin marriages, they were enacted by totally mail cast. this contribution is never mentioned in any of the debates about women and theatre."*

दंडधारी नाटक बाल गंगाधर तिलक के कार्यों पर आधारित था। उनकी भूमिका तथा इस प्रकार का नाटक करने पर इस कंपनी को प्रताड़ित भी किया गया। वेश्या, गणिकाओं को ऐसे नाटक करने का अधिकार किसने दिया? ऐसे सवाल पूछकर तत्कालीन नाट्य आलोचकों द्वारा ऐसे प्रयासों को घिनौना, अप्राकृतिक, बाज़ारू, भयानक, निचले दर्जे की हरकत कहा गया। उसे पापकर्म भी कहा गया।

१९१२ में मथुराबाई द्रविड़ द्वारा इन आक्षेपों का ज़ोरदार उत्तर दिया गया। महाराष्ट्र के अमरावती में इस वर्ष अखिल भारतीय नाट्य सम्मेलन सम्पन्न हुआ जिसमें मथुराबाई ने कहा कि *"the way the actors wore low necked blouses and the mans in which the sari was stretched over the front emphasizing the breast in a vulgar fashion. They used seductive gestures all the time in comparision of that act of these women was very moral respective and prestigious."*

मथुराबाई ने इस प्रकार पुरुष सत्ता, सामंतवादी दृष्टि को कड़ा जवाब दिया।

१९३० तक आभिजात्य वर्ग की किसी भी महिला को रंगमंच पर नहीं आने दिया गया। जबकि १९१५ में 'रंगभूमी मासिक पत्रिका' द्वारा 'रंगमंच पर स्त्रियों के प्रवेश' को लेकर एक चर्चा आयोजित की गयी थी। इस चर्चा में काशीबाई हिर्लेकर महिला द्वारा सर्व प्रथम ज़ाहिर तौर पर इस प्रवेश का समर्थन किया गया था । १९३३ में भी संजीवन नामक साप्ताहिक द्वारा इसी प्रकार की चर्चा आयोजित की गयी; जिसमें ८ महिलाओं में से ६ महिलाओं ने स्त्रियाँ को रंगमंच पर प्रवेश करने की हिमायत की थी। इसके संदर्भ में जो भूमिका इन महिलाओं ने रखी वह बहुत विशेष है -

१. रंगमंच पर काम करना इसे व्यक्तिगत चुनाव के रूप में स्वीकारा जाए।
२. जैसे शिक्षक, डाक्टर व्यवसाय है, वैसा ही दर्जा इसे भी दिया जाए, अर्थात् व्यावसायिक रूप में मान्यता दी जाए।
३. कला का संबंध कुलीनता अथवा नैतिकता से न जोड़ा जाए।
४. स्त्रियाँ रंगमंच पर प्रवेश करने के लिए हिचकिचाहट न करें। पर पुरुषों को गैरफायदा लेने से रोकें, और चरित्र आदि की रक्षा स्वयं करें।
५. स्त्रियाँ ने समाज की अनुमति की राह नहीं देखनी चाहिए, बल्कि अपने कार्य से, कर्तृत्व से उनके पूर्वाग्रह दूर करने चाहिए।
६. सहकारी पुरुषों से मुक्त संबंध रखें और अपनी सकारात्मक परंतु कठोर भूमिका निर्माण करें।

एक प्रकार से इसे नारीवादी चिंतन भी कहा जा सकता है। पर मराठी रंगमंच पर स्त्रियों के प्रवेश को लेकर यह किया गया विद्रोह था। एक अन्य लेखिका, यमुनाबाई द्रविड़ अपने समर्थन में प्रतिरोध के स्वर को बुलंद करती है। स्त्री के सकारात्मक चरित्र, भूमिका निर्माण करने में मराठी के अधिकतम नाटककारों ने न्याय नहीं किया है। जिसमें खाडिलकर जैसे बड़े नाटककार भी अपवाद नहीं हैं। जबकि इन्हीं खाडिलकर द्वारा 'कीचक वध' जैसा नाटक लिखा गया। किन्तु रंगमंच पर अभिजन, सवर्ण वर्ग की स्त्रियों के प्रवेश को लेकर अंत तक उनका विरोध जारी रहा। यह समाज कई शर्तों नियमों के आधार पर स्त्रियों को रंगमंच पर आने से रोकता रहा, जिसमें श.बा. मजूमदार, न्यायमूर्ति महाबल, श्री म. माटे, गणपतराव बोडस, बालगंधर्व आदि महामनाओं का नाम शामिल है। जबकि कमलाबाई किबे, विमललालजी, बेबी कुलकर्णी, यमुनाबाई द्रविड़, मथुराताई द्रविड़ आदि महिलाओं ने उसका ज़ोरदार

समर्थन किया। अंतत; १९३३ में 'नाट्यमन्वंतर' संस्था द्वारा पहली बार सवर्ण, अभिजन महिलाओं को रंगमंच पर प्रवेश दिया गया। नाटक का नाम था 'आंधळ्यांची शाळा' (अन्धो की पाठशाला)। यह नाटक ब्योनर्सन आयर्स के 'गाँटलेट' नाटक का रूपान्तरण था। इस नाटक में ज्योत्सना भोले नायिका तथा पद्माताई वर्तक सह-नायिका के रूप में थी। नायक और निर्देशक थे ज्योत्सना भोले के पति केशवराव भोले और निर्माता तथा अनुवादक थे पद्माताई वर्तक के पति श्री वा. वर्तक।

रंगमंच पर स्त्रियों के प्रवेश का एक और महत्वपूर्ण कारण 'अर्थकारण' भी था। नाटक मंडलियों द्वारा इसके पूर्व अन्य वर्ग की स्त्रियाँ को १००० रुपये माह वेतन देना पड़ता था, कुलीन स्त्रियों को केवल १५० रुपए माहवारी दिये जाते थे। इस कारण भी नाटक मंडली के मालिक सवर्ण, अभिजन महिलाओं के रंगमंच में प्रवेश हेतु उत्तरार्ध में प्रयत्न करते दिखाई देते थे। अंततः यह एक लंबी लड़ाई जीती तो गयी पर मराठी रंगमंच के इस पूवार्द्ध में दलित शूद्र, बहुजन तथा हाशिये पर आसीन महिलाओं द्वारा जो भूमिका अदा की गयी उसका महत्व सर्जनात्मक प्रतिरोधी स्वर के परिप्रेक्ष्य में समझना आवश्यक है, जिसे मुख्य धारा के आलोचकों ने और इतिहास ने कभी भी महत्व नहीं दिया, जबकि दलित, शूद्र महिला कलाकारों का कार्य ऐतिहासिक कार्य था। इन स्त्रियों के इस विद्रोह ने स्त्रियों के लिए रंगमंच के द्वार हमेशा के लिए खोल दिए। तत्कालिन प्रतिरोध को नारीवादी परिप्रेक्ष्य में भी समझा जाना आवश्यक है।

■■■

नुक्कड़ नाटक : प्रतिरोध से प्रचारतंत्र तक

एक समय था जब प्रतिरोध के नाटक के रूप में 'नुक्कड़' नाटक का अपना एक विशेष अस्तित्व हुआ करता था। कई दशक तक संपूर्ण देश में नुक्कड़ नाटकों ने प्रतिरोध का स्वर बुलन्द किया। आपातकाल की दमनकारी यंत्रणा के खिलाफ़, पूंजीवादी व्यवस्था के खिलाफ़, दहेज, अंधविश्वास, छुआछूत आदि सामाजिक प्रश्नों के खिलाफ़, जल संवर्धन, एड्स, बाल-मजदूरी, मजदूरों के हक, दलितों पर अत्याचार, स्त्रियों पर अत्याचार, जल-जंगल और जमीन ऐसे कई प्रश्न नुक्कड़ नाटक ने हाशिए पर लाए।

यह नाटक सही मायनों में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जनचेतना का माध्यम है। सही अर्थों में 'फॉर द पीपल, ऑफ द पीपल, बाय द पीपल, टू द पीपल' इन शब्दों में हम उसे परिभाषित कर सकते हैं। सफदर हाशमी उसे 'एक्सप्रेशन ऑफ द कॉमन पीपल' कहते थे।

भारतीय नुक्कड़ नाटकों की परंपरा काफी प्राचीन है। आधुनिक समय के पहले तक यह परंपरा लोकनाट्य ने अक्षुण्ण रखी थी। स्वतंत्र भारत में सबसे पहला नुक्कड़ नाटक १९४९ में कलकत्ता में हजारों मजदूरों के समक्ष प्रस्तुत किया गया था, जिसका नाम था 'चार्जशीट'। मजदूरों के प्रश्नों को उजागर करने के लिए यह नाटक खेला गया था।

उसके बाद आपातकाल में नुक्कड़ नाटकों ने जनजागरण में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। सैकड़ों कलाकारों ने पुलिस की लाठियाँ खाईं, जेल गए। सफदर हाशमी, आशीष चटर्जी, प्रोबीर दत्ता जैसे रंगकर्मियों ने अपनी शहादत दी। जननाट्य मंच ने नुक्कड़ नाटक को एक क्रांतिकारी माध्यम के रूप में स्थापित किया। सफदर हाशमी के नेतृत्व में जननाट्य मंच ने ५८ नुक्कड़ नाटकों के करीबन ७००० से भी अधिक प्रयोग किए। जब वे 'हल्लाबोल' नुक्कड़ नाटक का शो कर रहे थे, तभी उनकी हत्या कर दी गई। एक नुक्कड़ नाटक व्यवस्था को कैसे चुनौती दे सकता है और बौखलाई व्यवस्था कैसे एक रंगकर्मी की हत्या कर देता है, उसका यह एक ज्वलंत उदाहरण है।

जननाट्य मंच, थिएटर यूनियन, मिलीटंसी समवेदन, लोक कला मंच, परिवर्तन, समुदाय, प्रजा नाट्य मंडली, अस्मिता, नीज नाटका अय्यकम, मार्कीस्ट चेन्नई कलाई कुझू, निशांत, नाट्यचेतना, दलित थिएटर, स्त्री मुक्ति संघटना, कला सागर, दलित

रंगभूमी, बहुजन रंगभूमी अस्मिता ऐसी कई संस्थाएं हैं, जिन्होंने पूरे भारत भर में नुक्कड़ नाटक के माध्यम से प्रतिरोध का आंदोलन चलाया। विद्रोही किंतु रचनात्मक तेवर के साथ इन संस्थाओं ने रंगकर्म में एक महत्वपूर्ण और समानांतर भूमिका अदा की। किंतु भूमंडलीकरण के आगमन के साथ स्थितियाँ बदलती गईं।

भूमंडलीकरण ने नुक्कड़ नाटक की प्रासंगिकता, उपयोगिता को बहुत प्रभावित किया। समर्पण, त्याग, कमिटमेंट, मिशन, विद्रोही स्वर, प्रतिरोध की भूमिका, जो नुक्कड़ नाटक की पहचान थी, वह बदलती गयी। और 'एनजीयोज़' ने अपनी दखलदांजी करते हुए भूमंडलीकरण के दौर में नुक्कड़ नाटक को फंडिंग्ज़ का, फायनान्स का मोहताज बना दिया। नुक्कड़ नाटक एक 'प्रोफेशन का थिएटर' बन गया। फिर भी विचारों से, भूमिका से त्याग, समर्पण, कमिटमेंट वाले रंगकर्मी तब भी अपना काम कर रहे थे, आज भी कर रहे हैं। पर इस आंदोलन को बदलते परिवेश ने ज़रूर झकझोर दिया है।

आज का परिदृश्य तो काफी चिंताजनक है। नुक्कड़ रंगमंच की परिभाषा ही बदल दी गई है। या यूँ कह सकते हैं कि उसकी आत्मा ही निकाल दी गई है, केवल उसका कलेवर बाकी है। वह आज प्रतिरोध का नहीं बल्कि एनजीओज़, मल्टीनेशनल कंपनियों, उद्योग, व्यापार और राजनीतिक पार्टियों के प्रचारतंत्र का माध्यम बन गया है। सफदर हाशमी कहते थे, ''इफ स्ट्रीट थिएटर हैज़ एनी डेफीनेट ट्रेडीशन इन इंडिया, इट इज़ द एंटी इम्पेरिअलिस्ट ट्रेडीशन ऑफ अवर पिपुल फोल्ड ड्यूरिंग फ्रीडम मूवमेंट. इन अदर पाट्र्स ऑफ द वर्ल्ड इट इज़ पीपुल्स स्ट्रगल फॉर अ जस्ट सोशल एंड इकॉनामिक ऑर्डर'', लेकिन आज देखिए उसी 'इम्पेरिअलिस्ट' सत्ता ने नुक्कड़ नाटक को अपने प्रचार का माध्यम बना लिया है।

फंडिग्ज़, फायनान्स, स्पॉन्सरशिप, इवेंट मैनेजमेंट, प्रॉडक्ट प्रमोशन, बिजनेस प्रमोशन की व्याख्याओं के साथ नुक्कड़ नाटक को पीपल्स फ्रेंडली नहीं बल्कि 'कस्टमर फ्रेंडली', 'मार्केट फ्रेंडली' बना दिया गया है। चौराहे, बस्तियों की जगह अब नुक्कड़ नाटक मल्टीप्लेक्स, मॉल्स, बिज़नेस प्रमोशन पार्टीज़ में, ट्रेडिंग कांफ्रेंसेस में, बिजनेस कॉन्फ्रेंस में फाईव स्टार होटलों में पहुँच गया है। बिज़नेस कंपनियाँ प्रमोशन हेड के तहत नुक्कड़ नाटक मंडलियों को कांट्रॅक्ट पर ले रही हैं। परसेंटेज, आउटसोर्सिंग, बिचौलिए, दलाल, कमीशन की यह नुक्कड़ नाटक मंडलियाँ मोहताज हो गयी हैं।

डंकेल योजना के प्रचार के माध्यम से मल्टीनेशनल और सरकारी प्रचारतंत्र के रूप में पहली बार सारे देश में नुक्कड़ नाटकों का उपयोग किया गया। आज तो आम नुक्कड़ नाटकों को सरकारी प्रचार तंत्र का भी माध्यम बनते हम देख सकते हैं। देश

की बड़ी-बड़ी अभिजात और क्लासिकल नाट्य संस्थाएँ भी नुक्कड़ नाटकों के सरकारी कान्ट्रॅक्ट ले रही हैं। एन.जी.ओज़. कार्यकर्ताओं के नाम पर दलाली खा रहे हैं। बड़ी-बड़ी यूनिवर्सिटीज़ में नुक्कड़ नाटक समाज के बजाए कैम्पस स्ट्रीट तक सिमट कर रह गया है। देश की सारी बिजनेस स्टडीज़ स्कूल में 'नुक्कड़ नाटक' को प्रचारतंत्र, प्रचार माध्यम के 'टूल्स' या 'इन्स्ट्रूमेंट' के रूप में पढ़ाया जा रहा है। इवेंट मैनेजमेंट स्कूलों में 'नुक्कड़ नाटक' को एक 'इवेंट' की संज्ञा दी गई है। बिज़नेस मीडिया कन्सेल्टेंट 'प्रॉडक्ट' या 'ट्रेड प्रमोशन' हेतु रोड शोज़ के साथ 'नुक्कड़ नाटक' के प्रयोग के फंडे को प्रभावी मानते हुए, उसका उपयोग करने की सलाह बिज़नेस हाउसेस को दे रहे हैं।

आज कल नुक्कड़ों की बजाए प्रोसिनियम आर्च, मॉल्स की लॉबीज़, लाऊंज़ में भी इसके शो होते आप देख सकते हैं। नुक्कड़ नाटकों की प्रतियोगिताएँ भी इस दौर में बड़े पैमाने पर आयोजित की जा रही हैं।

बाबा रामदेव की संस्थाओं द्वारा भी स्पान्सर्ड नुक्कड़ नाटक 'स्वाभिमान' आंदोलन के तहत 'समर्थन' के रूप में किए जा रहे हैं। राजनीतिक पार्टियां चुनावों में अपने प्रचार हेतु नुक्कड़ नाटक करवाती हैं। व्यापारिक पाठ्यक्रमों में भी एक प्रचारतंत्र, मीडिया, टूल, 'इन्स्ट्रूमेंट' के रूप में नुक्कड़ नाटक शामिल किया गया है। बिजनेस स्कूलों में 'स्ट्रीट प्ले सोसायटीज़' बनाई जा रही हैं। कई ऐसे बिज़नेस स्टडीज़ फाउंडेशन भी हैं जो, 'प्रिंसिपल ऑफ मार्केटिंग एंड बिज़नेस' के तहत नुक्कड़ नाटक को बिज़नेस, ट्रेड, प्रोडक्ट प्रमोशन का प्रभावी माध्यम मानती हैं। 'इंडियन इन्स्टिट्यूट ऑफ फॉरेन ट्रेड' भी यह मानती है।

न्यूयॉर्क की बांड स्ट्रीट थिएटर एक एन.जी.ओ. है, जो दुनिया भर में स्ट्रीट थिएटर का ट्रेनिंग प्रोग्राम चलाती है। कल्चरल एक्चेंज पॉलीसी के तहत भारत सरकार ने भी इस एन.जी.ओ. को भारत बुलवाया था। उसका एक सेंटर दिल्ली में स्थापित किया गया है।

ये क्या हो रहा है? क्यों हो रहा है ? कैसे हो रहा है? ऐसे कई सवाल हमारे समक्ष खड़े हो सकते हैं, होने भी चाहिए। ताकि इस परिदृश्य के बारे में हम सोच सकें, समझ सकें। क्या भविष्य में 'प्रतिरोध' के नाटक के रूप में नुक्कड़ नाटकों की प्रासंगिकता, मान्यता, धारणा, अवधारणा अब खत्म हो जाएगी? क्या वह केवल एक बिज़नेस या ट्रेड प्रमोशन का माध्यम बन कर अथवा राजनीतिक पार्टियों के प्रचारतंत्र का हिस्सा बनकर रह जाएगा? या सरकारी यंत्रणा की मात्र एक प्रचार योजना बन कर रह जाएगा? यह आज एक भयावह साहित्यिक, सांस्कृतिक और सामाजिक प्रश्न है। ■■■

रंग - विविधा

- हिन्दी-मराठी नाटकों में गाँधी
- महात्मा फुले का नाटक - 'तृतीय रत्न'
- एल.जी.बी.टी. और मराठी नाटक
- भारतीय दलित - आदिवासी लोक रंगमंच
- रंगमंच और विकलांग युवादर्शक
- मराठी लोकनागर रंगमंच

हिंदी-मराठी नाटकों में गाँधी

महात्मा गांधी ने हिंदी-मराठी साहित्य की विविध विधाओं को प्रभावित किया है। कहानी, कविता, उपन्यास, व्यंग्य आदि के साथ नाटक और रंगमंच भी गांधी, गांधी विचार से अछूता नहीं रहा। गांधी युग के साथ गांधी अलग-अलग प्रकार से हिंदी-मराठी नाटक का हिस्सा बनते रहे। गांधी का व्यक्तित्व और कृतित्व ही इतना असामान्य, निराला और लक्षणीय रहा कि सृजनशील, विचारशील लेखक गांधी को अपने नाटक का विषय बनाने में अपने आपको टाल नहीं सके।

हिंदी रंगमंच में गांधी चरित्र पर आधारित नाटक लिखने का प्रारंभ सेठ गोविंद दास ने किया। मोहन करमचंद गांधी, कर्तव्य, 'सेवापथ', 'प्रकाश पथ', 'हर्ष', आदि नाटक लिखकर गांधी चरित्र के साथ गांधी विचारों को रंगमंच तक लाने का कार्य सेठ गोविंद दास ने किया। उनके बाद हरि कृष्ण प्रेमी ने 'आहुति' 'स्वप्न' 'मित्र', और 'रक्षा बंधन', आदि नाटक लिखकर गांधी विचारों का प्रचार-प्रसार किया। मुन्शी प्रेमचंद द्वारा भी 'प्रेम की वेदी' नाटक लिखकर गांधी विचारों को अभिव्यक्त किया गया। विष्णु प्रभाकर ने 'हमारा स्वतंत्रता संग्राम' तथा भगवान दास वर्मा ने 'बूझता दीपक' लिखकर हिंदी नाटकों में गांधीवादी नाटकों की परंपरा को समृद्ध किया। प्रसादोत्तर युग में 'गांधी' हिंदी नाटककारों के आकर्षण का विषय बना रहा।

स्वातंत्र्योत्तर काल में इसी परंपरा को लक्ष्मीनारायण मिश्र (संन्यासी), प्रभाकर माचवे (गांधी की राह पर), सर्वेश्वर दयाल सक्सेना (बकरी), अर्जुन देव चारंग (हिंदी स्वराज्य), गिरीराज किशोर (गांधी को फांसी दो), असगर वसाहत (गांधी गोडसे @काम) प्रेमानंद गज्वी (गांधी-अंबेडकर), ललितकुमार सहगल (हत्या एक आकार की), राजेश कुमार (गांधी ने कहा था), सुशील कुमार (बापू की हत्या हजारवीं बार), राजेंद्र त्यागी (बापू कैद में), नरेंद्र मोहन (मिस्टर जिन्ना), आदि लेखकों ने आगे बढ़ाया। सेठ गोविंद दास स्वयं गांधीवादी विचारों से प्रभावित थे। इसलिए उनके नाटक गांधीवादी आदर्शों को मानदंड के रूप में अभिव्यक्त करते थे। किंतु उनके पश्चात इन्हीं आदर्शों को नये नाटककार अपने ढंग से व्याख्यायित करते देखे जा सकते हैं। गांधी को बदलते चश्मों के साथ अलग-अलग रूपों में हिंदी नाटकों में अभिव्यक्त किया गया है।

मराठी नाटकों में भी गांधी प्रारंभिक दौर में 'आदर्श' के रूप में ही रखे गये। किंतु उसके पश्चात चरित्रात्मक नाटक के बजाएं गांधी विचार को नाटक का विषय बनाया गया। इसीलिए मराठी नाटकों में गाधी विभिन्न प्रतीकों-प्रतिमाओं में व्यक्त

किए गये हैं। वरेरकर, रांगणेकर, पु.ल. देशपांडे जैसे नाटककारों के नाटकों में गांधीवादी चरित्र विशेष रूप से दिखाई देते हैं। भविष्य में मात्र नये नाटककारों ने गांधी को अपनी दृष्टि के 'प्रिज़्म' की तरह अभिव्यक्त किया। मराठी में भी गांधी नाटकों की परंपरा काफी समृद्ध रही है। जिनमें प्रेमानंद गज्वी (गांधी-आंबेडकर), डॉ. अजित दलवी (गांधी विरूद्ध गांधी), प्रेमानंद गज्वी (हे राम), महेंद्र सुके (कुणी विकला गांधी), पु.ल. देशपांडे (तुझे आहे तुजपाशी), शफाअत खान (शोभा यात्रा), प्रदीप दळवी (मी नाथुराम? गोडसे बालतोय), धनंजय मांडवकर (मी कोण गांधी की गोडसे?), वसंत गुर्जर (गांधी मला भेटला) आदि नाटकों का प्रमुख रूप से उल्लेख किया जा सकता है।

भाषागत भिन्नता छोड़ दें, तो हिंदी मराठी दोनों नाटककारों के प्रश्न 'गांधी' के परिप्रेक्ष्य में काफी मिलते जुलते हैं। आम तौर पर आधुनिक पीढ़ी के नाटककार गांधी को उसकी महानता के साथ उन्हें कटघरे में भी खड़े करते दिखाई देते हैं। गांधी, गांधी-विचारों की प्रासंगिकता का विवेचन करना, गांधी को विभाजन के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित करना, गांधी को आंबेडकर और दलित अस्मिता के मायनों में जांचना, साथ ही गांधी को ब्रांड बनाकर उसका बाजारीकरण करना, गोडसे-गांधी के 'प्रकरण' को प्रमुखता से उभारना आदि दृष्टिकोण हिंदी-मराठी नाटकों में स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं, तो कई नाटक गांधी दर्शन की पुनर्व्याख्या भी करते हैं। तात्पर्य ये नाटक आलोचनात्मक हैं, समीक्षात्मक हैं, प्रतिक्रियात्मक हैं, किंतु सर्जनशीलता के साथ 'गांधी' को रखा जाना इन नाटकों का वैशिष्ट्य भी है। हिंदी-मराठी के अलावा भारतीय डायस्पोरा में भी 'मुन्नाभाई मीट्स गांधी' , 'गांधी माय फादर', 'गांधी बिफोर गांधी' आदि नाटक हिंदी, अंग्रेजी, गुजराती में खेले गये है, इसका उल्लेख करना भी अनिवार्य है।

पिछले दशक में असगर वजाहत का 'गोडसे@गांधी डॉट कॉम' नाटक तथा प्रेमानंद गज्वी का 'गांधी-अंबेडकर' नाटक काफी चर्चा का विषय रहा। इन दोनों नाटकों में गांधी चरित्र और गांधी विचार दोनों को उद्घाटित किया गया है। असगर वजाहत कहते हैं, 'गांधी की ढंग से व्याख्या करना इसलिए संभव है क्योंकि, गांधी अपनी महानता के बावजूद कुछ बहुत छोटे और टुच्चे विश्वासों, विचारों से अपने आपको मुक्त न करा सके थे। उनके विचारों और व्यक्तित्व में अपार अंतर्विरोध भरे पड़े हैं। ' वही प्रेमानंद गज्वी कहते हैं, "महात्मा गांधी महान थे ही किंतु उसका लाभ दलित जनता को नहीं मिला। न डॉ. बाबासाहब अंबेडकर की लड़ाई को वे समझ सके, ना डॉ. बाबासाहब को। " असगर वजाहत और प्रेमानंद गज्वी यह नाटककार

केवल नाटककार ही नहीं बल्कि सामाजिक आंदोलन से जुड़े कार्यकर्ता भी हैं। दलित समाज में गांधी की प्रतिमा को ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर उन्होंने विश्लेषित किया है। वहीं गोडसे का परिप्रेक्ष्य रखकर असगर वजाहत ने अपने नाटक में गांधी के अंतर्विरोधों और उसमें छोटे होते गांधी और गांधीवाद को रखा है। यह दोनों नाटक गांधी, गांधीवाद पर प्रश्नचिन्ह भी लगाते हैं।

अगर आज गांधी होते, तो वे गांधी विचारों की हत्या कैसे देखते? यह एक प्रश्न कई नाटककारों के ज़हन में दिखाई देता है। गांधी, गांधीवाद का पराजय भी कई नाटककारों के गंभीर चिंतन का विषय बना है। गांधी के नाम पर राजनीति का विषय भी कई नाटककारों ने तीखे तेवर में रखा है। गांधी की उपेक्षा, अवहेलना भी कई नाटककारों की संवेदनशीलता को चुनौती देता है। अंहिसा, शांति, ग्रामस्वराज, स्वाधीनता, संन्यास, सत्य के प्रयोग, गांधीवादी राजनीति, गांधीवादी अर्थशास्त्र, गांधी का सत्यवाद हिंदी-मराठी नाटकों में प्रतिबिंबित हुआ है। 'बकरी' जैसे लोकनाट्य शैली के नाटक में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने गांधी, गांधी विचारों के पराजय को पैने-तीखे व्यंग के साथ रखा, तो 'गांधी को फांसी दो' नाटक में गिरीराज किशोर 'हिंद स्वराज' की परिकल्पना की पराजय को व्याख्यायित करते हैं। 'बापू कैद में' इस नाटक में राजेंद्र त्यागी बापू के सिद्धांतों की हत्या पर संवेदनशील बन जाते हैं। वहीं महेंद्र सुके 'कुणी विकला गांधी?' में गांधी को कैसे सरे आम बेचा जा रहा है। यह सवाल खड़े करते हैं। प्रेमानंद गज्वी ने भी अपने 'हे राम' नाटक में गांधी के उन्हीं के तीन बंदरों द्वारा अपने स्वार्थ हेतु राजनीतिक हत्या का दृश्य बड़े मार्मिक तरीके से व्यक्त किया है।

अभी हाल ही में मराठी के प्रसिद्ध लेखक शफाअत खान द्वारा 'गांधी आड़वा येतो' नाटक लिखा गया, जो गांधी की आज की प्रासंगिकता को स्पष्ट करता है। 'गुंडा एलिमेंट को लेकर उसकी पारिवारिक राजनीति के परिप्रेक्ष्य को नये ढंग से रखा है। 'गुंडाइज़्म' की नई परिभाषा यह नाटक रखता है। वहीं उदय प्रकाश का नाटक 'मोहनदास' अस्तित्व खो जाना, मिट जाना, गुम हो जाना के संदर्भ में 'गांधी और गांधीवाद' को उत्तर आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में रखता है। आज गांधी अपना मूल अस्तित्व खो चुके हैं। आज की व्यवस्था ने, राजनीति ने असली गांधी को, गांधीवाद को लील लिया है। यह एक अंतर्मन को कचोटने वाली बिंबात्मक नाटकीय प्रतिक्रिया है, जो गांधी को सीधे, स्पष्ट रूप से उद्देशित नहीं करती पर गांधी को आरोपित न करते हुये भी गांधी के अपरोक्ष पराजय की बात ज़रूर रखती है।

गोडसे-गांधी चरित्र की बहुत महत्वपूर्ण कड़ी है, जो नाटक के दृष्टिकोण से

सर्वाधिक प्रासंगिक है। मोदी सरकार सत्ता में आते ही सावरकर और गोडसे पूजा के 'इश्यू' सर्वाधित चर्चा का विषय बन गये हैं। इस परिप्रेक्ष्य में राजेश कुमार का नाटक 'गांधी ने कहा था' एक प्रासंगिक और समकालीन नाटक है। अपने नाटक के परिप्रेक्ष्य में राजेश कुमार कहते हैं, "गांधी-गोडसे की लड़ाई तो शाश्वत है। जहां सच है वहां गांधी और जहां आंतक है वहां गोडसे। हिंसा अगर गोडसे है तो हिंसा का जवाब है गांधी। सांप्रदायिकता, कट्टरता, धर्मांधता का जवाब है गांधी", गांधी की यह सेक्यूलर व्याख्या सबसे महत्वपूर्ण है। जिस पर नाटककारों ने कम लिखा है। किंतु नरेंद्र मोहन का 'मिस्टर जिन्ना' नाटक गांधी की सेक्युलर इमेज को अधिक स्पष्ट रूप से विश्लेषित करता है। मन से गांधी हिंदू थे पर कट्टर नहीं। वे हिंदू होने का तात्पर्य आचार पद्धति से मानते थे, धर्मांधता से नहीं। 'मिस्टर जिन्ना' में सेक्यूलर गांधी को बड़ी ताकत के साथ नरेंद्र मोहन ने खड़ा किया है। २०१४ में युवा नाटककार धनंजय मांडवकर ने 'मी कोण? गांधी की गोडसे?' नाटक द्वारा गांधी-गोडसे के परिप्रेक्ष्य में गांधी की अवहेलना पर अपनी व्यथा व्यक्त की है। गोडसे के दैवतीकरण पर और युवा हिदुत्ववादियों के गोडसेवादी तेवर पर प्रहार किया है, जो एक आशावादी चित्र है।

■■■

महात्मा फुले का नाटक - 'तृतीय रत्न'

मराठी रंगमंच का उद्‌गम विष्णुदास भावे के 'सीतास्वयंवर आख्यान' से माना जाता है। सन १८४३ में महाराष्ट्र के सांगली में श्रीमंत राजासाहब आप्पासाहब पटवर्धन दरबार में इस खेल का प्रथम मंचन हुआ था। डॉ. जी.पी. देशपांडे कहते हैं, "यह नाटक ब्राम्हणी परम्परा का था। भावे पराजित ब्राम्हणों के नाटककार थे," इस नाटक का विषय पौराणिक था तथा उसका स्वरूप भी आख्यान नाटक जैसा था।

महात्मा जोतीराव फुले ने सन १८५५ में अपने 'तृतीय रत्न' (जिसे 'तृतीय नेत्र' भी कहा जाता है) नाटक की रचना की। इस नाटक ने सामाजिक रंगमंच की मशाल सही मायने में प्रज्वलित की। इसीलिए मराठी ही नहीं बल्कि भारतीय सामाजिक रंगमंच के वे प्रणेता माने जाते है। सामाजिक परिवर्तन का उद्देश्य लेकर फुले ने 'तृतीय रत्न' की रचना की। फुले सक्रिय एवं कृतिशील सामाजिक कार्यकर्ता थे, चिंतक थे। उन्होंने केवल सामाजिक परिवर्तन का सिद्धांत ही नहीं लिखा, उस सिद्धांत के लिए कृति भी की। सामाजिक परिवर्तन का आंदोलन खड़ा किया। शूद्रातिशूद्र एवं स्त्रियों के लिए पाठशाला शुरू की। रात्रिकालीन पाठशाला, वयस्कों के लिए भी पाठशालाएं शुरू कीं। विधवाओं का पुनर्विवाह, बाल हत्याओं पर प्रतिबंध, शराब बंदी आंदोलन, किसानों के प्रश्न, अकाल की समस्या आदि प्रश्नों को हाशिए से उठाकर मुख्य प्रवाह में लाया।

हिंदू धर्म प्रणित वर्णवादी, जातिवादी तथा मूलतत्ववादी व्यवस्था के खिलाफ़ उन्होंने संघर्ष किया। शूद्रों के लिए अपने घर का कुआं खुला कर दिया। सत्यशोधक समाज की स्थापना की। नई समाज रचना के लिए सार्वजनिक सत्यधर्म, जातिभेद विवेक सार, ब्राम्हणों का कसब (तरकीबें), गुलामगिरी, किसानों का चाबूक, सत्सार क्र. १, सत्सार क्र. २, चेतावनी आदि ग्रंथों की रचना की। पोवाडा, अखंड लिखे तथा 'तृतीय रत्न' नाटक भी लिखा। सामाजिक परिवर्तन के इस कार्य हेतु सावित्रीबाई के साथ उन्हें घर से निकाल दिया गया। जानलेवा हमला भी उन पर किया गया। किंतु आजन्म वे सामाजिक परिवर्तन की जंग लड़ते रहे।

महात्मा ज्योतीबा फुले मूलतः नाटककार नहीं थे। सामाजिक आंदोलन के एक लोकप्रिय माध्यम के रूप में १८५५ में 'तृतीय रत्न' नाटक उन्होंने लिखा। "सामाजिक-राजनीतिक आशय का यह नाटक क्रांतिकारी एवं प्रथम उद्‌बोधक सत्यशोधक नाटक था।" तत्कालीन सारे सामाजिक प्रश्नों का मूल धर्म, वर्ण एवं जाति प्रथा था। इस व्यवस्था में दलित, बहुजन, शूद्र, अस्पृश्य, पिछड़े समाज का बड़े पैमाने पर शोषण किया जा रहा था। मानवीय अधिकारों से उन्हें वंचित किया जा रहा था। अज्ञान, निरक्षरता, अंधविश्वास, सड़ी-गली परम्पराएं, वर्ण, जाति, अस्पृश्यता तथा आर्थिक शोषण ने इस समाज के उन्नति के सारे मार्ग बंद कर दिये थे। इस गुलामी से आज़ादी पाने के लिए, सामाजिक परिवर्तन के उद्देश्य से, विकास वंचित, शोषित-पीड़ित समाज को जगाने के लिए, उनमें चेतना निर्माण करने के लिए यह नाटक उन्होंने लिखा। शिक्षा का महत्व, शिक्षा के परिणाम, शिक्षा का लाभ उन्होंने इस नाटक के द्वारा प्रतिपादित किए। शोषण की व्यवस्था पर आधारित सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, दूषित पर्यावरण को उन्होंने इस नाटक द्वारा शुद्ध करने की कोशिश की। मानवतावादी, समतावादी, विज्ञानवादी, विवेकवादी, स्वतंत्र, गुलामी से मुक्त, मानव अधिकार युक्त, एक नये पर्यावरण के निर्माण का उद्देश्य इस नाटक के माध्यम से फुले पूर्ण करना चाहते थे। तात्पर्य यह कि मराठी सामाजिक रंगमंच का उद्‌भव फुले के सामाजिक विचार, भूमिका एवं कृति से हुआ है।

अभिजन वर्ग की स्वार्थ प्रेरित व्यवस्था में बहुजन समाज पराजित हो चुका था। इस पराजय के लिए वे वर्ण, जाति, धर्म एवं मूलतत्ववाद को ज़िम्मेदार मानते थे। "भावे - किर्लोस्कर के नाटकों द्वारा अभिजन वर्ग के 'स्व' रूप की खोज अवचेतना के माध्यम से की तो फुले ने सामाजिक पराधीनता के लिए अंदरूनी दुश्मनों को ज़िम्मेदार ठहराया। और उसके खिलाफ़ जंग छेड़कर बहुजन समाज के 'स्व' रूप को आंदोलन के माध्यम से उजागर किया।" तात्पर्य 'तृतीय रत्न' की प्रेरणा सामाजिक थी। सामाजिक चेतना से उसका सरोकार था। विद्रोह, पुनर्रचना, पुनर्जागरण उसका उद्देश्य था। सामाजिक परिवर्तन एवं नये पर्यावरण की स्थापना उसकी परिणति थी।

'तृतीय रत्न' नाटक ने अपनी रचना द्वारा कई प्रयोग सिद्ध किये। विषय,

आशय, कथ्य, शिल्प, शैली, चरित्र, भाषा, संवाद, नाट्यगत संघर्ष आदि की सारी कसौटियां ही बदल दीं। सामाजिकता को एक नया परिप्रेक्ष्य दिया। रंगमंचीय प्रस्तुति की सारी संभावनाओं को अपने आप में एक नया आकाश दिया। विद्रोह की नई परम्परा को जन्म दिया। वर्ण, जाति, धर्म, मूलतत्ववाद से मुक्ति, शिक्षा द्वारा जन जागरण, समतावादी, मानवतावादी, सामाजिक-सांस्कृतिक पर्यावरण का निर्माण, शोषण रहित समाज व्यवस्था की स्थापना, सामाजिक परिवर्तन की मानसिक सिद्धता, इसकी भूमिका को लेकर 'तृतीय रत्न' की रचना फुले ने की।

सामान्य रूप से गोविंद बल्लाळ देवल को तथा उनके 'संगीत शारदा' नाटक को आद्य सामाजिक नाटककार तथा नाटक कहा जाता है। किंतु इस नाटक की मूल भूमिका सामाजिक परिवर्तन की नहीं थी। इस नाटक में परिलक्षित सामाजिकता केवल ब्राम्हण वर्ग तक ही सिमित थी। "शारदा नाटक महाराष्ट्र में कहीं भी पाये जानेवाले किसी एक ब्राम्हण परिवार और समाज का यथार्थ पूर्ण चित्र है। इसके अलावा देशस्थ-कोकणस्थ ब्राम्हण जातियों में शरीर संबंध प्रस्थापित करने की कोशीश इस नाटक में चित्रित की गयी है।" लोक जागरण, लोक उद्बोधन, एक सामाजिक प्रश्न, समाज परिवर्तन इस दृष्टिकोण से इस नाटक की रचना नहीं की गयी, किंतु फुले का मूल उद्देश्य ही समाज परिवर्तन का था। फुले की सामाजिक दृष्टि और भूमिका स्पष्ट थी। अभिजन वर्ग द्वारा तिरस्कृत, मानवीय अधिकारों से वंचित, सर्वहारा, शोषित वर्ग फुले का केंद्रीय विषय था। तत्कालीन मराठी नाटककारों के पास सामाजिक यथार्थ की दृष्टि नहीं थी। साथ ही इच्छा शक्ति का भी अभाव था। इसिलिए इस परिप्रेक्ष्य में 'तृतीय रत्न' नाटक श्रेष्ठ नाटक है। भावे की परम्परा के नाटककार अपने परिवेश के सामाजिक-राजनैतिक परिस्थिति का प्रतिबिंब चित्रित करने में असफल रहे। क्योंकि वह यथार्थपूर्ण दृष्टि उनके पास नहीं थी, जो महात्मा फुले की जीवनदृष्टि थी।" इस यथार्थवादी जीवन-दृष्टि का परिचय हमें 'तृतीय रत्न' में मिलता है।

मराठी के प्रसिद्ध आलोचक कमलाकर नाडकर्णी ने 'इस नाटक को प्रथम सामाजिक समस्या प्रधान नाटक' कहा है। डॉ. आनंद पाटील उसे 'कृतिवादी सामाजिक नाटक' कहते हैं। फावलर ने इसे 'शिक्षापरक सामाजिक नाटक' का

दर्जा दिया है। प्रोफेसर रोजलिंड ओ हॅन्लन ने उसे 'शूद्रातिशूद्र का विद्रोही सामाजिक नाटक' निरूपित किया है। डॉ. गंगाधर पानतावणे उसे 'दलित सामाजिक नाटक' कहते हैं। प्रोफेसर दत्ता भगत ने उसे 'पहला आधुनिक सामाजिक नाटक' बताया है। डॉ. नागनाथ कोत्तापल्ले उसे 'सामाजिक परिवर्तन का नुक्कड़ नाटक' कहते हैं। डॉ. रूस्तम अचलखांब ने 'तृतीय रत्न' को 'लोकनागर शैली का सामाजिक नाटक' बताया है। गिरीश कर्नाड, जी. पी. देशपांडे, सुधन्वा देशपांडे, डॉ. यशवंत मनोहर, डॉ. पुरुषोत्तम मालोदे, डॉ. प्रवीण बन्सोड आदि आलोचक भी इस नाटक की सामाजिक शक्ति को रेखांकित करते हैं।

पांच प्रवेश, (जिसे फुले ने पाच अंक कहा है।) दृश्य रूप श्रृंखला के स्वरूप में आते हैं। सरल, सीधी विस्तारित कथावस्तु, मुक्तनाट्य शैली, नटेश्वर, नांदी, स्तवन आदि परम्पराओं का अभाव, वी-इफेक्ट अथवा एलिएनेशन नाट्यशैली का अवलम्ब, नये शिल्प की रचना, नया नाट्यविधान, विदूषक पात्र का नूतनीकरण, स्थल-काल एवं कृति की (थ्री यूनिटीज़) एकता को नकार, नये भाषा की, संवादों की रचना, नाट्यगीत, नाट्यसंगीत का अभाव, टोटल थिएटर की संकल्पना आदि इस नाटक की विशेषताएं हैं। किसान, उसकी पत्नी, जयराम जोशी ब्राम्हण, उसकी पत्नी, पादरी, मुस्लीम व्यक्ति, दामू जोशी एवं विदूषक इस प्रकार के आठ चरित्र इस नाटक में हैं। किसान का घर, दामू का घर, जोशी ब्राम्हण का घर, और मंदिर इन चार स्थानों पर यह नाटक घटित होता है।

वह गरीब किसान घर पर नहीं है, ऐसे समय पेटपूजक जयराम जोशी पंडित उसके घर पहुंचता है। उसकी गर्भवती पत्नी को, उसकी होनेवाली संतान पर बुरी ग्रहदशा है, ऐसा बताकर डराता-धमकाता है। दक्षिणा देने के लिए उसे मजबूर करता है। ग्रहशांति के लिए पूजा-विधि करने के लिए बाध्य करता है। उस किसान की माहवार कमाई केवल चार रूपये होती है, किंतु उस फटेहाल किसान को दस रूपये का कर्जा लेने का धर्मादेश जयराम पंडित देता है। झूठ-मूठ की पूजा करता है। पूजा सामग्री और भोजन का सामान हथिया लेता है। किसान और उसकी पत्नी से शारीरिक श्रम करवाता है। भोजन न देकर केवल प्रसाद ही उन्हें दिया जाता है, वह भी दूर से। ईश्वर, धर्म, ग्रहतारे, नसीब,

विधि लिखित, शाप, और बच्चे पर आनेवाले संकट के नाम पर उसके द्वारा आंतक निर्माण किया जाता है।

अंत में वहाँ एक पादरी आता है। किसान और उसकी पत्नी की आँखें खोलता है। जोशी ने उन्हें कैसे और क्यों फंसाया है? उसकी सच्चाई कथन करता है। उन्हें फुले के रात्रिकालीन पाठशाला में पढ़ाई हेतु जाने का मशवरा देता है। अज्ञान, अशिक्षा, अंधविश्वास के कारण वे जोशी के षडयंत्र मे फंस गये, यह एहसास उन्हें होता है। संपूर्ण नाटक में विदूषक निरीक्षक, निवेदक, विश्लेषक के रूप में कार्य करता दिखाई देता है। वह सत्य की खोज कर, सत्य को लोगों के सामने निरूपित करता है। यह विदूषक फुले का प्रतिरूप होता है। जो अपने विचारों को रंगमंचीय प्रतिमान का रूप प्रदान करता है। सामाजिक परिवर्तन की दिशा को उजागर करता है।

समाज को शिक्षित करना, उन्हें जागृत करना इस नाटक का मूल उद्देश्य है। "विद्या के बगैर मति गयी, मति के बगैर गति गयी। गति बगैर वित्त गया। इतना अनर्थ एक अविद्या ने किया।" यह फुले का एक अखंड है, जो उनके नाट्य भूमिका का परिचायक है। "हल जोतने के साथ किसानों ने शिक्षा ग्रहण की होती, तो ऐसे जोशी कब के भाग चुके होते", अगर जोशी मरने से इंसान को बचाते हैं, तो अंग्रेज सारे काम छोड़कर, अस्पतालों को ताले लगवाकर इंसान को बचाने का ज़िम्मा जोशी को क्यों नहीं सौंप देते?", अथवा "ग्रहों की पीड़ा झूठी है। जोशी और जोगाई बाई की राशि एक ही है। फिर जोशी को घी-रोटी और सारी तकलीफ, पीड़ा जोगाई को क्यों?" इस प्रकार के संवादों के द्वारा फुले अपनी वैज्ञानिक तथा व्यवहारवादी दृष्टि का भी परिचय देते हैं। 'शिक्षा' इंसान का तीसरा नेत्र है, तीसरा रत्न भी है, जिसके प्रभाव से अज्ञान, अशिक्षा, अंधविश्वास, अन्याय से संघर्ष किया जा सकता है। यह बात फुले तब कह रहे थे। जब 'शिक्षा' को अभिजन समाज 'पाप' कह रहा था। शूद्रों को विद्या का अधिकार नहीं था। सनातन प्रवृत्ति के ज्ञानी उस समय कहते थे, "अगर बच्चों को स्कूल भेजोगे तो कुल को कलंक लगेगा।" इस परिप्रेक्ष्य में फुले की शिक्षा के प्रति भूमिका, उनके क्रांति कार्य का परिचय करा देती है। इसीलिए 'तृतीय रत्न' एक क्रांतिकारी नाटक है।

भारतीय सामाजिक व्यवस्था वर्ण, जाति, संप्रदाय और मूलतत्ववादी तत्वों

से बनी है। सामाजिक-सांस्कृतिक शोषण के यथार्थ से उसका गहरा नाता है। इस नाटक का स्त्री चरित्र जोगाई 'स्त्री' एवं 'शूद्र' इन दोनों भूमिकाओं में शोषित है। स्त्री व्यवस्था का मूलाधार है। जयराम पंडित सबसे पहले इसी मूल पर घात लगाते हैं। उसके 'स्त्रीत्व' एवं मातृत्व को लक्ष्य बनाते हैं। डर, आतंक, गुलामी की श्रृंखलाओं के साथ पूजाविधि और उसके लिए कर्जा लेकर खर्च करने के लिए उसे बाध्य किया जाता है। "उच्च वर्णीय स्त्री का संघर्ष, और दलित-बहुजन स्त्री का संघर्ष" इसमें बहुत फर्क होता है। इस नाटक की 'जोगाई' नामक स्त्री पात्र का संघर्ष बहुआयामी है। उसके भावनिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, पारिवारिक सारी बातों को वर्ण, जाति एवं धर्म व्यवस्था नियंत्रित करती है।" स्त्री विमर्श के संदर्भ में भी यह नाटक बात करता है। सामाजिक, परिवर्तन के परिप्रेक्ष्य में 'स्त्री विमर्श' का विचार इस नाटक की एक विशेषता है।

मराठी के प्रसिद्ध आलोचक अरविंद वामन कुलकर्णी ने मार्क्सवादी चिंतक ग्रामची के 'कल्चरल हेगेमनी' के सिद्धांत पर इस नाटक की आलोचना कर एक नये अर्थ को स्थापित किया है। "हमारे देश में पूर्वजन्म, पुनर्जन्म, कर्मविपाक, आचार विधि आदी संकल्पनाओं के आधार पर सवर्णों ने, विशेषतः अध्ययन-अध्यापन कुशल ब्राम्हणों ने तत्वज्ञान की एक चौखट खड़ी कर दी। उच्च-नीचता के सूत्र के अनुसार एक समाज व्यवस्था का निर्माण किया। स्मृतिग्रंथ के रूप में ब्राम्हण तथा अन्य सवर्णों की सुविधा के लिए एक नियमावली तैयार की। जिसने ब्राम्हणों को 'भूदेव' के रूप में स्थापित किया। उन्होंने शूद्रों को गुलाम बनाया। उन्हे शिक्षा, ज्ञान से वंचित रखा। धर्म के नाम पर, ईश्वर के नाम पर वे अपनी प्रभुता, अपना वर्चस्व कायम रखते रहे। भाग्य, नसीब श्रेष्ठ है। शूद्र का जीवन ईश्वरेच्छा है। इस भूमिका के आधार पर सवर्ण तथा ब्राम्हण शूद्रों का सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और धार्मिक शोषण करते रहे। प्रतिरोध करनेवाले को नर्क में जाना होगा। यह आतंक भी उसके लिए फैलाया गया।" हमारी व्यवस्था की यह 'कल्चरल हेगेमनी' थी इस 'कल्चरल हेगेमनी' (सांस्कृतिक स्वमान्यता का सिद्धांत) को पहली बार नाटक के माध्यम से जोड़ने और सांस्कृतिक स्वमान्यता को तोड़ने की कोशिश महात्मा फुले ने 'तृतीय रत्न' में की। इस कल्चरल हेगेमनी का करारा जबाब फुले ने 'काऊंटर हेगेमनी'

(मान्यता विरोध का सिद्धांत) से दिया। तात्पर्य 'तृतीय रत्न' यह केवल एक नाटक ही नहीं 'काऊंटर हेगेमनी' का प्रतीक भी है। सामाजिक परिवर्तन के लिए सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक स्वमान्यता के सिद्धांत को मुहतोड़ जबाब देने कार्य 'तृतीय रत्न' ने किया।

बर्टोल्ट ब्रेख्त का 'वी इफेक्ट' अथवा 'एलिअनेशन' सिद्धांत सारी दुनिया के कला-सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रसिद्ध है। पूंजीवाद का प्रतिरोध करने के लिए, साम्यवादी, समाजवादी विचारधारा को नाटक के माध्यम से प्रतिष्ठित करने के लिए ब्रेख्त ने इस सिद्धांत का प्रवर्तन किया। दर्शकों में चेतना निर्माण करना, उनकी विचारशक्ति को जागृत रखना, दर्शकों का उद्बोधन करना, भावनिक दुर्बलता को रोकना, रस परिपोष में बहने न देना, निरीक्षक, विश्लेषक के रूप में भूमिका निभाना; यह इस सिद्धांत का मूल उद्देश्य था। एपिक थिएटर के रूप में इस सिद्धांत को प्रात्याक्षिक के तौर पर ब्रेख्त ने उसे पहचान दी। शिल्प, शैली, तंत्र, रचना भाषा, चरित्र, संवाद के तौर पर ब्रेख्त ने कई प्रयोग किए। आश्चर्य की बात यह है कि महात्मा फुले ने भी इस सिद्धांत को 'तृतीय रत्न' द्वारा प्रात्यक्षिक रूप में पेश किया। इस सिध्दांत, इस नाट्य शैली के सारे तत्व एवं विशेषताएं इस नाटक में हम देख सकते हैं। वह भी बर्टोल्ट ब्रेख्त से ७५ साल पूर्व।

एक नाटक के रूप में निश्चित तौर पर इस नाटक में कई न्यूनताएं हैं। पारंपरिक नाटक के मानदंड की कसौटी पर यह नाटक उतरता नहीं। रस परिपोष, नाट्यात्मकता, कलात्मकता, भावनिक अभिव्यक्ति इसमें नहीं है। किंतु इसका आशय और प्रदर्शन की 'प्रायोगिक' संभावनाएं इसकी खासियत है। कई संकल्पनाओं में इस नाटक का मंचन किया जा सकता है। कई संकल्पनाओं में उसकी आलोचना भी की जा सकती है। यह नाटक रंगमंच के परिप्रेक्ष्य में ऐतिहासिक मानदंड है। मराठी, सामाजिक रंगमंच का सही अर्थों में उद्गम भी इसी नाटक के द्वारा हुआ है।

महात्मा फुले के पास समाजलक्ष्यी मर्मदृष्टि थी। ईहवादी मानवकेंद्री संवेदनाएं उनके पास थीं। थॉमस पेन के 'राइट्स ऑफ मॅन' ग्रंथ ने उन्हें काफी प्रभावित किया था। १८८२ में हटर आयोग के समक्ष शूद्रातिशूद्र, दलित बहुजन समाज के लिए सार्वत्रिक शिक्षा की आग्रही मांग उन्होंने की थी। ड्यूक ऑफ कनॉट

के सत्कार प्रसंग में फटेहाल किसान की वस्त्रसज्जा कर अंग्रेजी में भाषण देकर, किसानों के बेहाली से उन्हें परिचित कराया और न्याय की मांग की। उपायोजित (एप्लाईड) कला शिक्षण की मांग भी वे हमेशा करते रहे। यह सारे प्रयत्न उन्होंने मानवीय अधिकारों के लिए किये। सामाजिक परिवर्तन के लिए किये। सामाजिक परिवर्तन बगैर मानवीय अधिकारों के प्राप्ति के सिवाय नहीं हो सकता, यह उनकी भूमिका थी। शिक्षा, शोषणमुक्त जीवन, सामाजिक-सांस्कृतिक समता उनके लिए मानव अधिकार ही थे। इन्हीं अधिकारों का चित्रण उन्होंने 'तृतीय रत्न' में किया है।

कुल मिलाकर सामाजिक परिवर्तन के रंगमंच के संदर्भ में 'तृतीय रत्न' का महत्व अतुलनीय है। भारतीय सामाजिक रंगमंच का सूत्रपात भी इसी नाटक ने किया है। दुर्भाग्यवश १२५ साल यह नाटक को अज्ञातवास भोगना पड़ा। १९७९ में इस नाटक को पहली बार खोजा गया। विगत ४० सालों से यह नाटक आज भी चर्चा का, शोध का विषय बना हुआ है।

■■■

एल.जी.बी.टी. और मराठी नाटक

एल.जी.बी.टी का अर्थ (एल) 'लेसबियन' (स्त्री-स्त्री संबंध), (जी) 'गे' (पुरुष-पुरुष संबंध), (बी) 'बायोसेक्शुएल '(स्त्री-स्त्री, स्त्री-पुरूष और पुरुष-पुरुष संबंध) (टी) 'ट्रान्ससेक्शुएल' (अर्थात स्त्री से पुरुष में अथवा पुरूष से स्त्री में लिंग परिवर्तन)। आम तौर से व्यापक स्तर पर इस प्रकार के व्यक्ति इन चार वर्गो में विभाजित किए जाते हैं।

इन चार वर्गों पर सर्वाधिक अर्थात् ३० के करीब नाटक आज मराठी में लिखे गये हैं। लिंगभाव से संबंधित चरित्र 'बृहन्नडा', कृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकर ने 'संगीत सौभद्र' मे पहली बार चित्रित किया। आधुनिक मराठी रंगमंच में १९८० के दशक में जानेमाने नाटककार तथा भारतीय रंगमंच के श्रेष्ठतम हस्ताक्षर विजय तेंदुलकर ने अपने 'मित्राची गोष्ठ' (मिता की कहानी) नाटक द्वारा समलैंगिकता का प्रश्न सामने लाया। यह नाटक स्त्री समलैंगिकता (लेसबिनीटी) पर आधारित था। उनके पश्चात सतीश आळेकर ने अपने 'बेगम बर्वे' नाटक में 'ट्रान्सजेंडर' (एंड्रोरोजिनी) के विषय को रखा। हालांकि इस नाटक में 'स्त्री पार्ट' करनेवाला पुरूष कलाकार कैसे धीरे-धीरे स्त्रीत्व धारण करता है, यह बताया गया है।

इन दो प्रमुख नाटकों के अलावा 'गे' रिलेशनशिप का चित्रण दुष्यंतप्रिय (सारंग भाकरे), 'एक-माधवबाग' (चेतन दातार), 'पुरूषोत्तम' तथा 'पार्टनर' (बिंदुमाधव खिरे), 'ऑफबीट' (जमीर कांबळे) आदि कुछ प्रमुख नाटकों में किया गया है, जिसका मंचन राष्ट्रीय स्तर पर किया जा रहा है। 'ट्रान्सजेंडर' के रूप में 'पुन्हा-पुन्हा वस्त्रहरण' (नाथा चितळे) 'तो – ती – ते – '(सुषमा देशपांडे, जमीर कांबळे), हिजडा (सागर लोधी), जैसे नाटकों ने हिजड़ों के प्रश्न पर नाटक लिखे हैं। इनके अलावा एल.जी.बी.टी. से संबंधित विषयों को लेकर 'मी पण माझे' (दैवेंद्र लुटे), 'छोट्याशा सुटीत' तथा 'पुर्णविराम' (सचीन कुंडलकर) 'सहा बोटांचा तळ हात' (अनिल देशमुख), 'ठष्ट' (संजय पवार), 'बुद्धिबळ आणि झब्बू' (च.प्र.देशपांडे), 'अलिबाबा चालिस चोर' जैसे नाटक अत्यंत गंभीरता से लिखे गये हैं।

किंतु इसके अलावा पुरुष वेश्याओं के प्रश्न पर लिखा गया 'एक चावट संध्याकाळ', लेस्बियन संबधों पर लिखा गया 'नवरा हवाय कशाला', पुरुष लैगिंकता पर लिखा गया 'शिश्नाच्या गोष्ठी' जैसे स्तरहीन नाटक भी लिखे और खेले गये हैं। जिन नाटकों का उल्लेख यहाँ किया गया है, ये सभी नाटक केवल एल.जी.बी.टी के विषय

पर लिखे गये हैं।

कुछ और ऐसे नाटकों का यहाँ उल्लेख करना मुझे आवश्यक प्रतीत होता है, जो अपनी कथावस्तु और कलात्मक अभिव्यक्ति के स्तर पर विशेष उल्लेखनीय हैं। ये सभी नाटक सीधे तौर पर एल.जी.बी.टी. के प्रतिनिधित्व नहीं करते। बर्टोल्ट ब्रेख्त की 'माता धिराई' लिंग से तो स्त्री है पर व्यक्तित्व, कर्तृत्व से पुरूष है। और गौरतलब है कि यह भूमिका भी भारतीय रंगमंच के जानेमाने एक्टर मनमोहन सिंग ने निभाई थी। दूसरा नाटक है 'अर्थातरंण्यास' (रविंद्र इंगळे) जो प्रसिद्ध दलित लेखक बाबूराव बागुल के 'सुड' नामक लघु उपन्यास पर लिखा गया है। जिसकी नायिका स्त्री लैंगिकता को दफन कर ऊपरी तौर पुरुष बन कर जीती है। 'बिन बायांचा तमाशा' जैसा लावणी का सुपरहिट कार्यक्रम सारे पुरुष कलाकार बेहतरीन ढंग से प्रस्तुत करते हैं।

भारतीय नाटककार नाग बोडस का मराठी में अनुदित नाटक 'नर-नारी' में नारी भूमिका निभानेवाले नट के नपुंसक होने की मानसिक प्रक्रिया को यह नाटक प्रस्तुत है। इवा इन्सलर का मराठी में वंदना खरे द्वारा अनुदित नाटक 'योनीच्या मनीच्या गुजगोष्ठी', एल.जी.बी.टी. पर आधारित नाटकों का परिप्रेक्ष्य अधिक चिंतनशील बनाता है। इसके अलावा लिंगभाव के परिप्रेक्ष्य में 'अवध्य' (चि.त्र्यं.खानोलकर) 'घासीराम कोतवाल', 'सखाराम बाईंडर' (विजय तेंडूलकर), 'वासनाकांड', 'गार्बो', 'सोनाटा' (महेश एलकुंचवार) 'रगतपिति' (श्याम पेठकर) 'हयवदन' (गिरीश कर्नाड) 'चार चौघी' (प्रशांक दळवी) 'मी रेवती देशपांडे ', 'एग्रेसिव', 'आली पाळी गुप चिळी' 'आईचे पत्र', जैसे नाटकों की भी चर्चा की जा सकती है।

'लिंगभाव' की जो परिकल्पनाएं, परिभाषाएं तथा सिद्धांत नारीवादी चिंतकों द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं, क्या वह एल.जी.बी.टी. इन चार वर्गों पर लागू होते हैं? नारीवाद के परिप्रेक्ष्य में कुछ हद तक 'लेसबियन' वर्ग को समाविष्ट करने का प्रयास हुआ है। उदाहरण के तौर पर १९९५ में बिजिंग में जो चौथी अंतरराष्ट्रीय महिला परिषद आयोजित की गयी थी, जिसमें एक सत्र लेसबियन स्त्रियों हेतु आयोजित किया गया था। इसके पूर्व भारत में भी 'तिरुपति' में १९९४ में संपन्न भारतीय स्त्री आंदोलन के अधिवेशन में कैनेडियन लेसबियन कार्यकर्ता एलिसन ब्रेवर की मुख्य उपस्थिति में 'लेसबियन' से संबंधित विषय पर विशेष संगोष्ठी का आयोजन किया गया था। तात्पर्य नारीवादी परिप्रेक्ष्य में एल. अर्थात लेसबियनीटी का अभ्यास, आलोचना, समीक्षा, लिंगभाव (जेंडर) आधार पर संभव है। किंतु 'गे' 'बायोसेक्सुएल' और ट्रान्सजेंडर्स' से संबंधित प्रश्नों को क्या हम इस 'लिंगभाव' अथवा 'जेंडर' के दृष्टिकोण

से विश्लेषित कर सकते हैं? 'गे' अंततः पुरुष है। ट्रान्सजेंडर भी अपूर्ण स्त्री अथवा अपूर्ण पुरूष है। तो क्या हम इन पूर्व या वर्तमान अपूर्ण पुरुषों के प्रश्नों कोनारीवादी 'लिंगभाव' की परिकल्पना एवं परिभाषा में विश्लेषित कर सकते हैं? क्योंकि यह सारी अवस्थाएं समाज, संस्कृति निर्मित नहीं बल्कि जैविक (बायोलॉजीकल) हैं। और हमारा नारीवादी सिद्धांत 'लिंगभाव' को जैविक नहीं अपितु पुरूषप्रधानता से उत्पन्न सामाजिक, सांस्कृतिक व्यवस्था, उपादानों, साधनों-संसाधनों से मंडित मानता है।

'मित्राची गोष्ठ' नाटक में पहली बार 'लेसबियन प्रोटोगॉनिस्ट' चरित्र की रचना तेंडूलकर ने की है। यह नाटक उस समय का, समय से आगे कहा जानेवाला आणि नाटक था। इस नाटक में तेंडूलकर ने नाट्यात्मकता, विषय का निरालापण, तथाकथित विद्रोह आदि के चलते लेसबियनिटी से संबंधित अपेक्षित कन्सर्न् को गंवा दिया। इसलिए उस नाटक का अंत सकारात्मक नहीं बल्कि नकारात्मक पद्धति से अभिव्यक्त किया गया। इसके बावजुद १९८० के दशक की सामाजिक व्यवस्था और अवस्था का दर्शन यह नाटक करवाता है। जिस समय लेसबियानिटी अथवा होमोसेक्सुएलिटी एक विकृति अथवा सामाजिक अपराध से ज़्यादा कुछ नहीं था। 'सुमित्रा-नमा' की प्रेमकहानी को एक अभिशाप के रूप में इस नाटक में प्रस्तुत किया गया।

समाज में लिंग पर आधारित पहचान के कारण समलैंगिक समूह को अपनी पहचान से वंचित होना पड़ता है। लिंग पर आधारित पहचान की मांग जमीर कांबळे का नाटक 'ऑफ बीट' करता है। सामान्य वर्ग के कलाकार नहीं मिलने के कारण अंततः यह नाटक समलैंगिक समूह द्वारा खेला गया। माध्यमों द्वारा इस नाटक की काफी सराहना की गयी। नारीवाद में 'एंड्रोजिनी' संज्ञा का उल्लेख मिलता है। इस संज्ञा के परिप्रेक्ष्य में सतीश आळेकर का नाटक 'बेगम बर्वे' सटीक बैठता है। इस संज्ञा के अनुसार बर्वे नामक चरित्र में स्त्री-पुरूष दोनों के गुणविशेष पाये जाते हैं। इस तरह के चरित्र 'बायोसेक्शुएल' वर्ग में पाए जाते हैं। आळेकर ने नाट्यात्मक और कलात्मकता के साथ अपने कन्सर्न को प्रभावी रूप से अभिव्यक्त किया है। हाल ही में 'मी रेवती देशपांडे' नामक प्रोफेशनल नाटक आया था, जिसमें एंड्रोजिनी अथवा बायोसेक्सुअल का तत्व ऊपरी तौर पर दर्शाया गया है, पर यह मूल प्रश्न को स्पर्श तक नहीं करता, केवल मनोरंजन के नाम पर एक स्तरहीन और भोंडापन इस नाटक में दिखाई देता है, कारण है लेखक का इस प्रश्न के प्रति कन्सर्न नहीं होना।

'तो-ती-ते' तथा 'पुन्हा-पुन्हा वस्त्रहरण' यह नाटक हिजड़ों (ट्रान्सजेंडर्स) की सत्यकथा एवं घटनाओं पर आधारित नाटक है। इसमें हिजड़ों के शोषण तथा प्रताड़नाओं को अभिव्यक्त किया गया है। दो जेंडर्स के बीच पिसता थर्ड जेंडर

'तृतीयपंथ' (ट्रान्स जेंडर्स, नो जेंडर, अथवा ब्लैक या ब्लैंक जेंडर, फोर्थ जेन्डर) पर आधारित यह नाटक बहुत ही मर्मस्पर्शी है। समलैंगिकता के आंदोलन से जुड़े बिंदु पर माधव खिरे ने 'पुरूषोत्तम' और 'पार्टनर' जैसे नाटक लिखे। यह नाटक निश्चित रुप से कन्सर्न के साथ लिखे गये हैं। 'पुरुषोत्तम' नाटक में उन्होंने समलैंगिकता की वकालत ही नहीं कि बल्कि सह-जीवन, विवाह हेतु कानून और समाज की मान्यता का भी आग्रह किया है। 'ऑफ बीट' के लेखक जमीर कांबळे भी अपने आपको ज़ाहिर रूप से इसी वर्ग से मानते हैं और गौरव के साथ उसके कन्सर्न की घोषणा भी करते हैं। चर्चित सभी नाटकों में 'दुष्यंतप्रिय' नाटक नाट्यात्मकता, कलात्मकता, प्रतिबद्धता और कन्सर्न आदि सभी दृष्टिकोण से एक श्रेष्ठ नाटक माना जा सकता है। यह नाटक सारंग भाकरे ने लिखा और निर्देशित भी किया है।

मूलतः यह नाटक गे संबंधों की श्रेणी में आता है। इसे 'लवस्टोरी ऑफ द मैन' भी कहा जाता है। दुष्यंत-शंकुतला प्रसिद्ध मिथक अथवा मिथक कथा पर इस नाटक की रचना की गयी है। नाटक में भूमिका करनेवाले दो पुरुषों की यह कहानी है। जिसमें से एक पुरुष प्रॉक्सी के रूप में शंकुतला का रोल कर रहा होता है। प्रेम-प्रणय के दृश्यों को अभिनीत करते वे दोनों प्रगाढ़ प्रेमसूत्र में बंध जाते हैं। यह नाटक यहीं पर खत्म नहीं होता बल्कि दुष्यंत शंकुतला की 'लिजेंडरी' प्रेमकहानी को समलैंगिक संबंधों के परिप्रेक्ष्य में उसके निर्वचन (इंटरप्रिटेशन) के साथ रखा गया है।

अभिज्ञान शांकुतल नाटक के परिप्रेक्ष्य में 'दुष्यंत-शंकुतला' के मिथकीय प्रेम प्रसंग का अन्वयार्थ सर्जनशीलता के साथ नाटककार ने स्पष्ट किया है। वहां स्त्री-पुरुष संबंध है, तो यहां पुरूष-पुरूष संबंध है। फिर भी लिंगभाव का एक नया अर्थ देने का प्रयास यह नाटक करता है। अभिज्ञान शांकुतल का नाट्यविधान, कथावस्तु, प्रसंगों को यहां इस नये परिदृश्य में रखा गया है। जैसे दुष्यत-शंकुतल का प्रेम सार्वजनिक होते ही मूल दुष्यंत की भूमिका में इस नाटक में काम करनेवाला दुष्यंत पुरुष शंकुतला को पहचानने से इन्कार करता है। अंततः अभिज्ञान शांकुतल में जिस तरह 'हैपी एंडिंग' होता है, उसी प्रकार पुरुष शंकुतला और पुरुष दुष्यंत हमेशा के लिए एक हो जाते हैं। लिंगभाव से परे जाकर मिथक का यह आधुनिक निर्वचन सर्जनशीलता और गे संबंधों के प्रति कन्सर्न का अच्छा उदाहरण है। 'सेम मिथिकल फ्रेमवर्क' इस नाटक की खासियत है। (प्रेम, विरह तथा स्वयं को बचाने का) प्रयास, दबाव में अस्वीकार की कृति तथा अंत में स्वीकार आदि सूत्रों का यहाँ योग्य तरीके से अनुपालन किया गया है। एक प्रकार से इसे 'मिथिक प्रर्पोशन ऑफ द टेल' भी कहा गया है। प्रेम की एक सर्वमान्य श्रेष्ठतम, सर्जनशील साहित्यकृति के मानदंडों को लेखक द्वारा

पुर्नरचना कर उसका गंभीरता के साथ निर्वचन ही नहीं बल्कि पूनर्निवचन भी किया गया है। समलैंगिकता के विषयों को भी गंभीरता और प्रतिबद्धता के साथ बगैरे किती भ्रांति के अभिव्यक्त किया गया है।

अपने-अपने तरीके से ये सभी नाटक एल.जी.बी.टी. से संबंधित विषयों को कर्न्सन के साथ, गंभीरता के साथ, अपनी भूमिका के साथ अभिव्यक्त करते हैं। उनके एल.जी.बी.टी. यथार्थ को स्वीकार कर उसकी सार्वत्रिक रूप से घोषणा करते हैं। कुछ लेखक इस श्रेणी में नहीं होने के बाद भी मानवता के आधार पर एल.जी.बी.टी. समूहों के हक और अधिकार का समर्थन करते हैं। इस संदर्भ में चेतन दातार के 'एक-माधवबाग' नाटक का मैं विशेष रूप से उल्लेख करना चाहूंगा। यह एक ऐसी विधवा स्त्री की कहानी है। जो बगैर पति के अपने बच्चों को बड़ी जद्दोजहद के साथ लालन-पालन कर रही है। फिर अचानक उसे पता चलता है कि उसका होनहार बेटा 'गे' है, समलिंगी है। इसके पश्चात उस माँ की जो भावनिक संघर्ष-यात्रा है, वह बहुत प्रभावी है। अंततः अपने बेटे को वह उसके समलैंगिक व्यक्तित्व के साथ हिम्मत से स्वीकारती भी है और उसका जैविक, वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में समर्थन भी करती है। चेतन दातार न 'गे' थे, न किसी ऐसे आंदोलन के वे कार्यकर्ता थे। इसके बावजूद एक कर्न्सन के साथ, मानवता के साथ, मानवीय मूल्यों के साथ, प्रतिबद्धता के साथ उन्होंने 'एक-माधवबाग' का एकल नाट्य प्रयोग के रूप में रचना की, जिसे मोना आंबेगावकर जैसी मशहूर अभिनेत्री, अपने बेजोड़ अभिनय के साथ देश-विदेश में मंचित करती है।

ये सभी नाटक एक विधा के रूप में भी परिपूर्ण हैं। प्रयोगधर्मिता के साथ नाट्यरचना की सभी इकाइयों के साथ, नाट्यात्मक मूल्य के साथ, नाट्यशिल्प और शैली के साथ, अपनी पूर्णता के साथ अभिव्यक्त होते हैं। इसलिए मंचीय क्षमता भी उनमें भरपूर है। लेकिन क्या कभी ये नाटक अपने 'ब्लाईंड' अथवा 'ब्लैंक जेंडर' जैसी स्थिति में मुख्यधारा' के नाटक के रूप में स्वीकारे जाएंगे? या उन्हें भी दर्शकों द्वारा प्रचलित सामाजिक मान्यताओं का शिकार होना पड़ेगा? यह भी एक महत्वपूर्ण प्रश्न है।

फिर भी कुछ प्रश्न शेष हैं। नारीवादी विमर्श में सिमॉन द बुवा नारी के दोयम दर्जे की श्रेणी की आलोचना करती हैं। इस दोयम दर्जे के खिलाफ़ लड़ती हैं, लड़ने की प्रेरणा देती हैं। इस परिप्रेक्ष्य में एल.जी.बी.टी. को कौन-सी श्रेणी रखा जाए और क्यों? क्या नारी को एक मनुष्य/मानव समझे जाने की मांग इस समूह के लिए लागू नहीं हो सकती है? दूसरा प्रश्न है, लिंग पर आधारित श्रम विभाजन के तीन महत्वपूर्ण

अंग है, उत्पादन, पुनर्उत्पादन तथा समुदाय सहतत्व। इस वर्ग के साथ एल.जी .बी.टी. को कैसे जोड़ा जा सकता है?

अतः यह वर्ग भी परंपरागत पितृसत्ता, प्रधान व्यवस्था का शिकार है। सामाजिक मान्यता देने में सबसे बड़ा रोड़ा यही व्यवस्था है। ऐसी स्थिति में नारीवाद इस अवस्था को कैसे देखता है? इस एल.जी.बी.टी. समाज को और किस लिंगभाव से देखा जाना चाहिए? क्या जेंडर ब्लाईंड की संज्ञा हाशिए पर ही रह जाएगी? अथवा सीमांतीकरण का यह एक उपेक्षित प्रश्न रह जाएगा? उत्पादकता के मूल्यों के आधार पर इस वर्ग की श्रेणी का स्थान क्या होगा? गृहिणी, पारिवारिक सदस्य, स्वायत्त उत्पादन के रूप में हम इस वर्ग को कैसे देख सकते हैं? यह मूल प्रश्न है, जिस पर चर्चा होनी आवश्यक है।

■■■

भारतीय दलित-आदिवासी लोक रंगमंच

झारखंड राज्य में रांची शहर में कुछ वर्ष पूर्व झारखण्डी भाषा, साहित्य, संस्कृति, अखाड़ा (जो स्वयं एक सांस्कृतिक संगठन है) द्वारा प्रथम राष्ट्रीय स्तर का दलित-आदिवासी नाट्य समारोह आयोजित किया गया था। नाट्य प्रस्तूति के साथ संगोष्ठियों का भी आयोजन किया गया था। यह नाट्य समारोह केवल एक नाट्य समारोह नहीं था, बल्कि भारतीय दलित-आदिवासी लोक रंगमंच की नई रंगमंचीय संभावनाओं का आगाज़ करने वाली ऐतिहासिक घटना थी।

इस राष्ट्रीय नाटक समारोह तथा राष्ट्रीय संगोष्ठी की परिकल्पना को रखते हुए समारोह के सलाहकार तथा वरिष्ठ रंगकर्मी अश्विनी कुमार पंकज ने कहा, "दलित-आदिवासी रंगमंच के अनुभवों, प्रयोगों और रंगभाषा के समन्वय और आंतरिक संवाद को स्थापित करना, दलित-आदिवासी रंगमंच के कलात्मक अवरोधों की गहराई से पड़ताल और दलित-आदिवासी रंगभाषा की वैचारिकी एवं दिशा को आगे ले जाना, इस नाट्य समारोह का मुख्य उद्देश्य है।" समकालीन रंगमंच के परिप्रेक्ष्य में दलित-आदिवासी लोक रंगमंच की प्रासंगिकता को भी उन्होंने स्पष्ट रूप से रखा।

केवल भारतीय ही नहीं बल्कि विश्व स्तर पर दलित-आदिवासी लोक रंगमंच की परिकल्पना एक क्रांतिकारी पहल है, यह मैं मानता हूँ। साथ ही मुख्यधारा के रंगमंच के लिए भी यह अवधारणा एक चुनौती है, यह भी मेरी धारणा है। वैश्विक कला परिदृश्य में दलित आदिवासी रंगमंच की एकता, समन्वय और साझेदारी, एक नई रंगभाषा गढ़कर नई संभावनाओं का आगाज़ करती है। आनेवाले समय में 'भारतीय दलित-आदिवासी लोक रंगमंच' की परिकल्पना निश्चित रूप से एक नये भारतीय रंगमंच का रूप धारण कर सकता है।

पहला नाट्य समारोह होने के बाद भी देश के महाराष्ट्र, आंध्रप्रदेश, केरल, तामिलनाडू, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, बिहार, झारखण्ड, छत्तीसगढ़, पंजाब, गोवा, पश्चिम बंगाल, उड़ीसा, मणिपुर के दलित-आदिवासी तथा ओबीसी के रंगकर्मी, नाटककार, निर्देशक, आलोचकों ने अपनी सहभागिता दी। रंगमंच से सक्रिय रूप से जुड़े देशभर से १३० कलाकारों ने भी इस समारोह में शिरकत की। इतना ही नहीं अपितु नेपाल, थायलैंड और अमेरिका से भी कई नाट्यकर्मी इस समारोह में सहभागी हुये।

प्रो. दत्ता भगत, प्रेमानंद गज्वी, डॉ. अनिल सपकाले (महाराष्ट्र), अशोक पागल,

डॉ. माता प्रसाद, राजकुमार रजक (उत्तरप्रदेश), श्रीजीत सुंदरम, पेरूमल (तमिलनाडू), विनय भारत, अश्विनी कुमार पंकज, अनिल कुमार सुमन, शाम सुंदर महतो (झारखण्ड), डॉ. वीर भारत सरकार, अरविंद गौड (दिल्ली), श्रीनिवास देनेचाला (आंध्रप्रदेश), राजेंद्र प्रसाद सिंह, अरुण नारायण (बिहार), महादेव टोप्पो, शुक्राचार्य राभा (असम), आशुतोष पोछार (कर्नाटक), जी.न. सिंह, तोईजाम शिला देवी (मणिपुर), राजू दास (पश्चिम बंगाल), टेरंस जार्ज, हर्टमेन डिसूजा (गोवा) आदि देश के रंगचिंतकों ने अपना दलित-आदिवासी विमर्श प्रस्तुत किया।

मोलगपोड़ी (बामा), कोर्ट मार्शल (स्वदेश दीपक), ब्लैक आर्किड (बुद्धा चिगतम), एक आदिवासी बयान (अश्विनी कुमार), गांधी-आंबेडकर (प्रेमानन्द गज्वी) तथा म्यूजिकल क्रीयचर्स ऑफ द अर्थ (हार्डमन डिसूजा) आदि नाटकों के साथ परंपारिक आदिवासी नाटक, नृत्य नाटक, नृत्य तथा विधिनाट्य भी इस समारोह में प्रस्तुत किए गए। यह सभी नाटक बहुभाषिक थे। साथ ही बहुसंस्कृति का प्रदर्शन करने वाले भी थे। जिसकी प्रकृति एवं प्रवृत्ति शुद्ध देशज थी, जो दलित आदिवासी रंगमंच की जमीन सिंचनेवाली थी। मुख्यः समारोह का नाम भी देशज की अवधारणा को स्पष्ट करता नाट्य आखड़ा था। बहुभाषिक तथा बहुसांस्कृतिक स्वरूप के कारण एक आदर्श भारतीय रंगमंच स्वर मुखर होता दिखाई दिया।

भारतीय रंगमंच की नई संभावनाओं का यह अखाड़ा पहला स्वर था। जिसे जोश-खरोश के साथ अभिव्यक्त किया गया। साथ ही संगोष्ठी के पाँच सत्रों में दलित-आदिवासी रंगमंच पर गंभीरता पूर्वक चिंतन भी किया गया। १) दलित-आदिवासी रंगमंच में समकालीन दलित आदिवासी रंगभाषा २) समकालीन दलित-आदिवासी रंगभाषा की प्रवृत्तियां-समन्वय, एकता और साझेदारी का स्वरूप ३) समकालीन दलित आदिवासी रंगभाषा-व्यवहार और अनुभव ४) दलित-आदिवासी रंगभाषा : दिशा और कार्यभार ५) दलित आदिवासी रंगभाषा की उपलब्धियाँ, सीमाएँ और एकता। आदि सत्रों में दलित-आदिवासी रंगचिंतकों ने कई गंभीर पहलूओं पर अपने अनुभव साझा करते हुए चर्चा की। दलित-आदिवासी रंग विमर्श के दरवाजे इस संगोष्ठी ने खोल दिये।

साठोत्तरी दशक में डॉ. बाबासाहब आंबेडकर की प्रेरणा से महाराष्ट्र में दलित रंगमंच अस्तित्व में आया। दलित रंगमंच की परिकल्पना के पहले लोक कला, लोकनाट्य, लोक जलसे आदि लोकधर्मी कला प्रकार दलित समाज की पहचान थी, किन्तु म.भि. चिटनीस के 'युगयात्रा' नाटक से सुघड़ नाटक की परंपरा चल पड़ी। एक ओर सुघड़ नाटक तो दूसरी ओर नुक्कड़ नाटक दलित नाटक के अभिन्न अंग

बने। शुरुवाती दौर में आक्रमक, भड़कीले, विद्रोही, अतिरंजित नाटकों का मंचन होता रहा। पर दूसरे चरण में गंभीर, चिंतनशील, रचनात्मक नाटक खेले गए। १९९० के दशक में आए भूमंडलीकरण में नुक्कड़ नाटक का आंदोलन गायब हो गया। नुक्कड़ नाटक सरकारी योजना और कार्पोरेट कंपनियों का प्रचारतंत्र बन गया है। साथ ही उनका एन.जी.ओ.करण भी होता गया। सुघड़ नाट्य की धारा भी ठहराव की शिकार हो गई है। बीते दशक में दलित रंगमंच का अस्तित्व खतरे में आया, यह हम स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में दलित आदिवासी लोक रंगमंच दलित रंगमंच के लिए नवसंजीवनी साबित हो सकती है।

आदिवासी लोकनाट्य, लोककला को लेकर लोकनागर रंगमंच के तहत बड़ा काम किया गया। के.एन. पन्निकर, हबीब तनवीर, रतन थिएम, भानु भारती, इब्राहिम अलकाजी ने दलित आदिवासी, लोक शिल्प और शैली का बड़े पैमाने पर प्रयोग किया। आगे चलकर यह प्रयोग राष्ट्रीय मुख्य धारा के प्रयोग बने। प्रस्तुतियाँ सफल रहीं। उन्हें रंगकर्म के क्षेत्र में स्थापित करने में इन प्रयोगों ने अहम भूमिका निभाई। परंतु उन्होंने कभी स्वतंत्र-स्वायत्त रूप में दलित आदिवासी रंगमंच को विकसित करने की, उसे इस परिकल्पना में परिभाषित करने की कोशिश नहीं की। यह मान्यवर कभी दलित-आदिवासी की अस्मिता से, पहचान से अपने आप को नहीं जोड़ पाये। इस यथार्थ को हम कैसे नकार सकते हैं?

दलित आदिवासी रंगमंच की परिकल्पना ने आज कई नयी सकारात्मक संभावनाओं को जन्म दिया है। भारतीय सामाजिक प्रतिबद्धता का यह रंगमंच एक सांस्कृतिक परिवर्तन का माध्यम बन सकता है। एक नई रंगभाषा, एक नई सौंदर्य भाषा इस रंगमंच में है। जो भारतीय रंगमंच को नया आयाम दे सकती है। परंतु आज दलित आदिवासी रंगमंच में संवाद स्थापित करना, शिल्प, शैली, बिम्ब का आदान-प्रदान करना, स्वतंत्र रंगतंत्र और रंगमंत्र के नए समीकरण की रचना करना अत्यावश्यक है, क्योंकि यह संपूर्ण क्षमता इस रंगमंच में (अखाड़े में) है।

दलित आदिवासी लोक रंगमंच ने दलित तत्व की विस्तृत व्याख्या की है। अपनी अवधारणाओं को भी व्यापक रूप दिया है। ''जाति से केवल दलित होना'' इस परिभाषा को छोड़कर ''जो भी भारत की शक्ति संरचना में उत्पीड़न के शिकार हैं। (जिनमें अधिकांश दलित, आदिवासी, पिछड़े 'लोक', स्त्री और सामाजिक, आर्थिक पृष्ठभूमि से कमज़ोर 'लोग' है।) इन्हें दलित माना जाएगा। जातीय, सामन्ती पितृसत्तात्मक पद्धति के खिलाफ़ जातीय वर्गीकरण, वर्गीय धार्मिक राजनीति के खिलाफ़ यह रंगमंच संघर्ष करेगा और यह केवल दलित, आदिवासी लोक के सार्थक

साझा प्रयासों से संभव हो सकता है।

महामानव क्रांतिसूर्य डॉ. बाबासाहब आंबेडकर ने इसी व्यापक दलित तत्व की परिकल्पना की थी। तथागत गौतम बुद्ध, महात्मा ज्योतिराव फुले, कबीर ने भी इसी अवधारणा को मानव मुक्ति का मार्ग बताया है। दलित, आदिवासी लोक रंगमंच ने इसी अवधारणा को स्वीकार किया है। जो इस रंगमंच का शक्ति स्थान है। अर्थात् इस रंगमंच की वैचारिकी स्पष्ट है। बस अब जरूरत है इस वैचारिकी को प्रतिमान में बदलने की। रंगमंचीय प्रयोगों में पारदर्शिता होने की, प्रयोगधर्मिता की राह चुनने की और उस पर अमल करने की, बहुभाषा और बहुसंस्कृति के रंगदर्शन की। वर्तमान में चुनौतियाँ बड़ी हैं। भूमंडलीकरण के दौर में यह प्रश्न अधिक विकराल होंगे। उत्तराधुनिक भारतीय समाज में दलित-आदिवासी लोक समुदायों के सांस्कृतिक आकांक्षाओं के संदर्भ में उभरी रंगचेतना और समकालीन रंगभाषा की मुख्य प्रकृतियाँ और दिशा की पहचान और उसका विश्लेषण करना, हम रंगचिंतकों, रंगकर्मियों की प्राथमिकता होनी चाहिए।

दलित-आदिवासी समाज के नए रंगकर्मी राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, भारतेंदु नाट्य अकादमी, लोककला अकादमी, ट्रायबल आर्ट्स डिपार्टमेंट, देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों से प्रशिक्षित होकर बाहर निकल रहे हैं। नॉर्थ ईस्ट के कलाकारों की तादाद भी कम नहीं है। एक नई रंगचेतना को यह नई पीढ़ी नया आयाम दे सकती है। रूप, शिल्प, शैली, बिम्ब, विषय, आशयगत स्तर पर समकालीन रंगभाषा और रंग सौन्दर्य को वे अपनी पहचान दे सकते हैं। रांची के दलित-आदिवासी लोक नाट्य समारोह में हुई संगोष्ठियों ने एक ज़मीन निश्चित तौर पर तैयार कर दी है। बस अब इंतज़ार है, राष्ट्रीय कोर कमिटी की कृतियोजना की, एक्शन प्लान की। संगोष्ठी, कार्यशाला, परिचर्चा, प्रशिक्षण वर्ग, अभिविन्यास वर्ग की, उद्‌बोधन वर्ग की, प्रयोगशालाओं की। अब वह दिन दूर नहीं है, जब भारतीय आदिवासी-दलित लोक रंगमंच भारतीय रंगमंच के रूप में अपनी पहचान बनाने में सफल होगा।

■■■

रंगमंच और विकलांग युवा दर्शक

विविध प्रकारों का शारीरिक एवं मानसिक अपंगत्व का मतलब बौद्धिक एवं शारीरिक पिछड़ापन होता है। इस पिछड़ेपन को चार स्तर पर दूर करने का प्रयास किया जा सकता है - १. सामाजिक स्तर, २. शारीरिक स्तर, ३. शैक्षणिक स्तर, ४. मनोवैज्ञानिक स्तर। अगर इन चारों स्तरों पर कोशिश की जाती रही तभी इन विकलांगों का सामाजीकरण, सामान्यीकरण गति से होकर उन्हें मुख्य प्रवाह में शामिल करने की प्रक्रिया प्रभावी रूप से तथा तेजी से हो सकती है। समूह समन्वयन का प्रशिक्षण भी उन्हें प्राप्त हो सकता है। विविध उपचार पद्धतियाँ *(Therapies)*, विविध एक्सरसाईजेस, विविध सृजनशील खेल आदि महत्व की भूमिका अदा कर सकते हैं। इतना ही नहीं विकलांगों में' लोकेशन असेसमेंट' कर उन्हें सामान्यजन जैसे रोजगार के अवसर भी प्रदान किए जा सकते हैं और यह सब प्रत्यक्ष में साकार करने का एक माध्यम है - रंगमंच *(Theatre)*!

आज जब हम यहाँ थिएटर और यंग ऑडियंस की बात कर रहे हैं। उसके अस्तित्व, उसकी स्थिति और चुनौतियों के बारे में बात कर रहे हैं, तो तात्पर्य जिस (यंग ऑडियंस) को हम केंद्र में रख रहे हैं, वह सामान्य अथवा समाज के मुख्य प्रवाह में अस्तित्वमान युवा दर्शक है। लेकिन मैं आपका ध्यान समाज से कटे, वंचित, उपेक्षित युवा दर्शकों की ओर खींचना चाहता हूँ। जो शारीरिक एवं मानसिक रूप से विकलांग हैं। खास तौर पर दृष्टिहीन बाधित हैं, मूकबधिर हैं अथवा मतिमंद अथवा दिव्यांग हैं। ऐसे दर्शकों को सकारात्मक दृष्टिकोण से 'विशेष' या *'Special'* युवा कह सकते हैं। हमें उन्हें विकलांग दृष्टि से नहीं, प्रकृति ने दिए गए विशेष मानवीय रूप-स्वरूप के साथ देखना चाहिए।

आज जब हम यहाँ 'युवा दर्शक' के बारे में सोच रहे हैं, विचार-विमर्श कर रहे हैं तो एक सवाल मैं आप सभी से करना चाहता हूँ। क्या इस विशेष अर्थात् विकलांग दर्शकों को हमने नोटिस लिया है? क्या हमारी प्रायोरिटी में, उद्देश्यों में, कृति कार्यक्रमों में यह विकलांग दर्शक शामिल हैं? क्या थिएटर की गतिविधियों में इस विषय पर गंभीरता से सोचा गया है? इन सारे प्रश्नों के उत्तर हमें नकारात्मक रूप में ही मिलने की संभावना है।

इन विकलांगों की उपेक्षा सदियों से होती आ रही है। भारत ही क्यों अमेरिका जैसे विकसित राष्ट्र में भी मूक-बधिर, विकलांगों को 'आउटसाइडर' करार दिया

जाता था। क्योंकि उनके पास 'वर्बल लैंग्वेज' नहीं था। उन्हें विदेशी तक कहा जाता था। उनकी साईन लैंग्वेज को वहाँ की क्रिश्चिनिटी ने भाषा का दर्जा देने से इंकार कर दिया। *(Forbidden Singers American culture and the campaign against sign language- by Douglas C. Baynton)* किसी भी देश में उन्हें 'मेन स्ट्रीम' का हिस्सा नहीं माना गया। एक 'आयसोलेट क्लास' के रूप में इस वर्ग को हम आज भी देख सकते हैं।

ऐसे विकलांगों के प्रति थिएटर की निश्चित रूप से अपनी एक ज़िम्मेदारी है। इन लोगों को कलाकार और दर्शक दोनों रूप में मुख्य प्रवाह में लाना ज़रूरी है। मेरी अपनी रंगमंचीय यात्रा में कुछ अनुभव ऐसे हैं, जो मैं यहाँ आपसे साझा करना चाहूँगा। इनके अनुभव के आधार पर मैं यह ज़रूर कहना चाहूँगा कि, 'अंध, मूक-बधिर तथा मतिमंद' बच्चे युवा केवल एक दर्शक ही नहीं, बल्कि रचनात्मक दर्शक भी होते हैं; क्योंकि वे विकलांग नहीं विशेष दर्शक होते हैं। *(Special young audience)* उनके बारे में हम सोचें, उन्हें कलाकार एवं दर्शक के रूप में सहभागी बनाएं, यह हमारी सामाजिक ज़िम्मेदारी भी है।

रंगमंच से जुड़े विकलांग युवा कलाकारों ने विश्व स्तर पर भी बड़ा योगदान दिया है। फ्रेंच थिएटर एक्ट्रेस सारा बर्नहार्ड पैरों से विकलांग थी, वह सारी भूमिकाएँ व्हील चेअर पर बैठकर निभाती थी। 'चिल्ड्रेंस ऑफ लेज़र गॉड' में मैरीक मेडोफ युवा अभिनेत्री जो 'मूक' थी, लीड रोल करती थी। इसी नाटक पर बने फिल्म में भी मार्ले मैटलीन नामक मूक थिएटर युवा एक्ट्रेस ने लीड रोल कर एकेडेमी अवार्ड जीता था। तात्पर्य विकलांग, दिव्यांग युवा रंगमंच में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है।

आजकल विकलांगों के लिए भी वर्कशॉप होने लगे हैं। 'न्यूयॉर्क नेशनल थिएटर वर्कशाप' इन विकलांग लोगों के लिए काम कर रही है, जो एक प्रोफेशनल नाट्य संस्था है। युवा विकलांग दर्शकों का एक वर्ग भी *(N.T.H.W)* द्वारा बनाया गया है। ग्रेई थिएटर कंपनी, निकल स्पूव ऑफ ब्राडवे थिएटर कंपनी, फामली थिएटर कंपनी, थिएटर ब्रेक थ्रू बॅरियर्स कंपनी आदि कई थिएटर कंपनी हैं, जो प्रोफेशनल थिएटर करती है, जिन्हें अमेरिका में बड़े पैमाने पर दर्शक भी मिलते हैं, जिनमें युवा दर्शक बड़ी संख्या में हैं।

भारत में भी यह दिव्यांग, विकलांग दर्शक बड़े पैमाने पर हैं, जिन तक हमें पहुँचना ज़रूरी है। यह एक रेडीमेट युवा दर्शक है, जो थिएटर आंदोलन को, गतिविधि को मददगार साबित हो सकते हैं। पर आमतौर वे हम थिएटरवालों के भी

उपेक्षा का विषय बन बैठे हैं। उन तक पहुँचना हमारी अभी भी प्रायोरिटी नहीं है। युवा विकलांग दर्शकों के संदर्भ में मैं अपने तीन अनुभव आपके साथ बाँटना चाहता हूँ।

अमरावती (महाराष्ट्र) शहर में मूक-बधिर, अंध स्कूलों के बच्चे, युवा हमेशा हमारे विशेष दर्शक रहे हैं। नाट्य प्रतियोगिता, प्रोफेशनल शो के अलावा हमने नियमित रूप से इन विशेष दर्शकों के लिए मंचन किए हैं, जो सफल तो रहे हैं और एक विशेष युवा दर्शक वर्ग को बनाने में भी कारगार सिद्ध हुए हैं। नाटक देखते हुए मन में उभरे चरित्र की प्रतिमा को वे नाट्य अभिनेताओं को छूकर, बाल, मूछें, चेहरा, वस्त्र सज्जा, स्टेज प्रापर्टी, हैंड प्रापर्टी, सामग्री को स्पर्श कर पहचानने की कोशिश करते थे। नाटक का आनंद लेने के साथ ही नाटक के प्रभाव को भी अपनी समीक्षा, आलोचना के रूप में व्यक्त करते थे। यह एक्सपेरिमेंट हमें भी बहुत कुछ सिखाता रहा। आम तौर पर अंध दर्शक कानों से नाटक देखता है और सुनता भी है। विजुअलाईज़ करने की उनकी क्षमता विशेष होती है। हमारा नाट्य मंचन होने के बाद उनसे चर्चा करते थे। जब-जब भी नाटक के बारे में चर्चा की, तब-तब आवाज़, चरित्र, वस्त्र सज्जा, रूप सज्जा, संगीत के आधार पर जो प्रतिमा वह गढ़ते, उनकी कल्पनाओं के अनुरूप निकलते। नाटक के पसंदीदा संवाद भी वे तत्काल याद कर लेते थे। चरित्रों को पोश्चर, गेश्चर, इनटोनेशन तथा चरित्रगत विशेषताओं को प्रस्तुत करते थे। सही मायने में नाट्यशास्त्र के बाह्य गुणों के निकष में न होते हुए भी एक श्रेष्ठ दर्शक हमें इन युवा अंध दर्शकों में दिखाई देते थे।

असल में यह दिव्य दृष्टि के दर्शक समाज का हिस्सा होते हुए भी वंचित दर्शक वर्ग था। यह एक ऐसा दर्शक वर्ग था, समाज से कटा था, उपेक्षित भी था। पर एक अच्छे दर्शक की योग्यता हमें उन बच्चे एवं युवा दर्शकों में देखने का अवसर प्राप्त हुआ। यहां 'दर्शक' और 'दर्शन' दोनों ही मायने बदलते हुए हमने देखा है। 'श्राव्य' प्रक्रिया भी नाटक के एप्रिसिएशन के लिए काफी थी, जो इन्हें विजुअलायज़ेशन की क्षमता प्रदान करती थी।

मूक-बधिर युवा दर्शक एक अच्छे दर्शक साबित होते हमने देखे हैं। इनकी प्रतिक्रियाएँ, भाषा नहीं बल्कि पोश्चर, गेश्चर तथा दृश्यविन्यास के आधार पर व्यक्त होती थीं। उसे वे नकल या इमिटेशन के माध्यम से व्यक्त करते थे। उनमें छिपी अभिनय क्षमता को इस माध्यम से हमने देखा। यह विकलांग युवा दर्शक अच्छे समीक्षक, आलोचक हो सकते हैं इसका भी अनुभव हमें हुआ। साईन भाषा के माध्यम से अपनी कमियों को दूर कर नाटक पर भी वे अच्छी तरह विचार विमर्श

चर्चा करते थे। उनके द्वारा की गयी आलोचना आंगिक, सात्विक और आहार्य अभिनय का उत्कृष्ट उदाहरण होता था।

तीसरा अनुभव मतिमंद युवा दर्शकों से जुड़ा है। यह वर्ग भी ऐसा दर्शक है जो विकलांग होते हुए भी विशेष है। वे हमेशा एक लर्नर दर्शक के रूप में काम करते हैं। अनुकरण के माध्यम से वे अपनी प्रतिक्रियाएँ देते थे। कुल मिलाकर यह वह दर्शक थे, जो आपके दर्शकों के सैद्धांतिकी निकषों को भी ख़ारिज करते हैं। उनका एप्रिसिएशन, आलोचना, समीक्षा एक नई समीक्षा पद्धति इजाद करती है जिसे हम दृक या श्राव्य समीक्षा कह सकते हैं।

विकलांगों के लिए भी स्कूलों में नाटक विषय का अध्यापन हो, उसे पाठ्यक्रम में भी शामिल किया जाए, यह मांग हम कई वर्षों से करते आए हैं। हाल ही में एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा सभी स्कूलों के पाठ्यक्रम में नाटक को एक विषय के रूप में प्रस्तुत करने की पहल की जा रही है। किंतु विकलांगों के शैक्षणिक पाठ्यक्रम में यह विषय अभी तक नहीं आया है। असल में विकलांगों के लिए नाटक एक उपचार पद्धति का काम कर सकता है, यह कई विद्वानों द्वारा सिद्ध किया जा चुका है। अगर ऐसा हुआ तो दर्शकों का एक बड़ा वर्ग थिएटर को प्राप्त हो सकता है।

सामान्य युवा दर्शकों के साथ ही विकलांग युवा दर्शकों के संदर्भ में आज थिएटर विश्व द्वारा सोचा जाना, रंगमंचीय गतिविधीयों में उन्हें लाना, मैं थिएटर को व्यापक होना मानते हूँ, जिससे हमारा थिएटर अधिक विकसित, गतिमान हो सकता है।

■■■

मराठी का लोकनागर रंगमंच

मानवी जीवन के विकास की प्रक्रिया में शारीरिक अंगविक्षेप सर्वप्रथम अभिव्यक्ति की भाषा बनी। आगे चलकर संवेदनाओं ने उसे 'नृत्त' में परिवर्तित किया। 'नृत्त' से 'नृत्य' और नृत्य से 'नाट्य' के विकास की प्रक्रिया शुरू हुई। यातुविधि आगे चलकर नाट्यविधा बनी। यह नाट्यविधा शब्द-नृत्य से विकसित होकर समूहनाट्य बना, जो भविष्य में लोक रंगमंच के रूप में अस्तित्व में आया और अभिव्यक्ति के साथ रंजन का माध्यम भी बना। मानवीय जीवन के सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास की प्रारंभिक अवस्था से लोकरंगमंच का अस्तित्व हम देख सकते हैं। आगे चलकर 'प्राकृत' फिर 'संस्कृत' और फिर 'क्षेत्रीय रंगमंच' का विकास होता रहा। इसी प्रक्रिया में बदलते काल में वह नागरी रंगमंच का स्वरूप धारण करती रही। समय बदलता रहा, काल की गति चलती रही। लेकिन काल से परे होकर लोकरंगमंच ने सभी स्थितियों में अपना अस्तित्व बनाए रखा।

मराठी रंगमंच का भी यही विकास क्रम रहा है। प्राकृत-संस्कृत रंगमंच के पश्चात लोकरंगमंच की धारा भी बहती रही। इसी लोकरंगमंच की अविरत गति में मराठी रंगमंच का जन्म हुआ है। तंजावरी राजाओं के मराठी नाटक हों अथवा विष्णुदास भावे के 'आख्यान खेल' हों अथवा महात्मा ज्योतिराव फुले का आधुनिक नाटक 'तृतीय रत्न' हो, इन सभी घटनाओं का धरातल लोकरंगमंच ही रहा है। आधुनिक काल में समय की प्रासंगिकता ने लोकरंगमंच तथा नागर रंगमंच के अभिसरण की प्रक्रिया में लोकनागर रंगमंच को जन्म दिया। "रंगमंच के साथ संस्कृति की समग्रता को अपने अस्तित्व में समाने की प्रक्रिया ही लोकनागर रंगमंच के निर्माण की प्रक्रिया है। यह एक प्रकार का संस्कृतीकरण *(Sanskritisation)* ही है।" जो नाट्य सामाजिक पर्यावरण *(Dramatic Social Environment)* की परिणति होती है। इसी नाट्यधारा ने 'उपनिवेशवादी' संस्कारों से मराठी रंगमंच को मुक्त कराने की उल्लेखनीय कोशिश की।

अंग्रेजी सत्ता ने सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया। उपनिवेशवादी संस्कारों ने हमारी अभिरुचि को

नियंत्रित किया था। इसी को मिटाने में, अपनी मिट्टी, अपनी ज़मीन की खोज की प्रेरणा और प्रयास भी इस लोकनागर रंगमंच ने किया हैं। अंग्रेजी प्रभाव को ठुकराकर अपने लोक रंगमंच को परिष्कृत कर नागर रंगमंच ने अपनी आवाज़ को पुरजोर रूप से सशक्त किया। १९८५ में भारतीय सामाजिक क्रांति के अग्रज महात्मा ज्योतिराव फुले ने इस प्रक्रिया में सर्वप्रथम पहल की। लोक रंगमंच के विदूषक, सूत्रधार की, मेक बिलिफ, रचना पद्धति, तंत्र, शैली, शिल्प का चरित्र रचना लचीलापन जैसी अनेक विशेषताओं को लेकर 'तृतीय रत्न' शीर्षक नाटक लिखा। हालांकि इस नाटक का मंचन नहीं हुआ किंतु प्रयोगधर्मिता के संदर्भ में यह 'नाट्यलेखन' एक क्रांतिकारी घटना मानी जानी चाहिए।

आधुनिक मराठी रंगमंच के परिप्रेक्ष्य में लोकनागर रंगमंच की परंपरा का प्रारंभ फुले के 'तृतीय रत्न' से शुरू हुआ है। अण्णासाहब किर्लोस्कर का 'सौभद्र' तथा गोविंद बल्लाळ देवल का 'शारदा' आदि नाटकों ने लोकनागर रंगमंच की दिशा में कुछ प्रमाण में प्रयत्न किए। किंतु आगे चलकर उनके प्रयत्न संगीत तथा नागर रंगमंच की भीड़ में खो गए। अंग्रेजी नाटकों के प्रभाव में १९६० के दशक तक तो लोकनागर रंगमंच के विकास की सारी संभावनाएँ खत्म हो गयीं। केवल एक अपूर्ण अपवाद का उल्लेख करना यहाँ निहायत ज़रूरी है। माधवराव जोशी ने १९२४ में 'संगीत स्थानिक स्वराज्य संस्था अथवा म्यूनिसीपालीटी' यह नाटक लिखा एवं खेला भी। लोकनागर रंगमंच की उस समय की यह एक सशक्त अभिव्यक्ति थी। किंतु भविष्य में यह अभिव्यक्ति एक सशक्त धारा नहीं बन पायी। १९६०-७० के दशक तक लोकनागर रंगमंच की प्रक्रिया लगभग समाप्त हो चुकी थी।

मराठी रंगमंच पर प्रयोगधर्मी नाटकों का दौर १९६० में शुरू हुआ। पाश्चिमी रंगमंच के साथ लोकरंगमंच के प्रति आकर्षण नयी पीढ़ी के रंगकर्मियों को लुभाने लगा और लोक तथा नागर रंगमंच की अभिसरण की प्रक्रिया गति से शुरू हुई। देशीयता की जड़ें फिर नवनिर्माण का प्रयास करती दिखाई देने लगीं। परंपरागत नाट्यदर्शन से लोक बोरियत महसूस करने लगे थे। बर्टोल्ड ब्रेख्त के अनुकरण की ओर रूझान बढ़ा। परिणाम स्वरूप प्रयोगात्मक लोकाविष्कार का स्वीकार गति से होना शुरू हुआ। यह केवल एक नवीनता, नया-नया फेरबदल नहीं था बल्कि संस्कृति की समग्रता को पहचान देने की कोशिश भी थी। संस्कृतीकरण की प्रक्रिया का भी यही प्रारंभ था। जिसके फलस्वरूप

लोकनागर रंगमंच की प्रक्रिया को बढ़ावा देनेवाली आत्मचेतना को भी बढ़ाव मिलने लगा। एक नए नाट्यात्म सामाजिक पर्यावरण का निर्माण होने लगा। उपनिवेशवादी संस्कारों के बोझ से मुक्त होने की दिशा में मराठी रंगमंच के सरोकार का भी यह प्रतीक था।

१९७० के दशक में तथा उसके पश्चात मराठी के लोकनागर रंगमंच पर कई नाटक खेले गए। जो प्रयोगधर्मी तो थे ही साथ ही वे अपनी मिट्टी से भी जन्मे थे। सही मायने में इन्हीं नाटकों ने मराठी लोकनागर रंगमंच की नींव रखी और उसे समृद्ध भी किया। इन नाट्यकृतियों के नाम इस प्रकार है - घाशीराम कोतवाल, सरी ग सरी, जंबुद्वीपचा मुकाबला, पाटलाच्या पोरीचं लगीन (विजय तेंडूलकर), महानिर्वाण (सतीश आलेकर), पती गेले गं काठेवाडी (व्यंकटेश माडगुळकर), थांबा, रामराज्य येतेय! (प्रकाश त्रिभुवन), पोहा चालला महादेवा (उद्धव शेळके / ज.रा. फणसळकर), क्रांतियोगी गाडगेबाबा (नाना ढाकूलकर / सतीश पावडे), विच्छा माझी पुरी करा, खणखणपुरीचा राजा (वसंत सबनिस), लोककथा-७६ (रत्नाकर मतकरी), वरून किर्तन आतून तमाशा, अबक दुबक (अशोक परांजपे), रायाबाई-भुलाबाई, गोटूल (सुधाकर गायधनी), पुढारी पाहिजे (पु.ल. देशपांडे), वस्त्रहरण (गंगाराम गवाणकर), खंडोबाचे लगीन, जांभुळ आख्यान (सुरेश चिखले), गाढवाचं लगीन (हरिभाऊ वडगांवकर), राजा गोंधळी प्रजा आंधळी (डॉ. मधुकर वाकोडे), अल्वारा डाकू (पुरुषोत्तम बेर्डे), मुलगी झाली हो (ज्योति म्हापसेकर), कथा माणकावतीची (विद्या काळे), खेळीमेळी (चंद्रशेखर फणसळकर), झुलवा (उत्तम बंडू तुपे / चेतन दातार), हयवदन (गिरीश कर्नाड / चि.व्यं. खालोनकर), नागमंडल (गिरीश कर्नाड / उमा कुलकर्णी), अजब न्याय वर्तुळाचा (बर्टोल्ट ब्रेख्त / व्यंकटेशन माडगुळकर), जुलूस (बादल सरकार / अमोल पालेकर), चांगुणा (फ्रेडरीक लोर्का / आरती हवालदार), कथा अकलेच्या कांद्याची, एक गांव बारा भानगडी, लवंगी मिरची कोल्हापूरची (शंकर पाटील), रामराज्यातील एक राम, ग्यानबाची मेख, मीच तो बादशहा, आंधळं दळतंय (शाहीर साबळे), गोफा चांभाराची बकुळा (फ्रेडरीक लोर्का / पद्माकर गोवईकर), इसके आलावा सोंगी रामायण, दशावतारी राजा, लळीत, वासुदेव सांगाती, संगीत मनमोहना, मातीचे स्वप्न, शारदीय लोककला आदि लोकनागर नाटकों का भी मंचन प्रारंभिक दौर में चर्चा का विषय बना।

इन नाट्यकृतियों के अलावा तमाशा के अभिन्न अंग कहे जाने वाले 'वगनाट्य' के में भी कई स्वतंत्र 'वगनाट्य' इस काल में लिखे गये एवं खेले भी

गए। लोकनागर रंगमंच के इन नाटकों में आधुनिकता के कई प्रश्नों से लेकर मनुष्य के समूह जीवन के अंतरंग को बखूबी से चितेरा गया। लोकरंगमंच की विशेषताओं को हथियार बनाकर सत्यशोधक जलसा, आंबेडकर जलसा, दलित रंगमंच तथा पथनाट्य जैसी नाट्यविधा भी समृद्ध हुयी। पारंपरिक तमाशा भी परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरकर लोकनागर रंगमंच की पहचान बन गयी।

असल में लोक रंगमंच एवं नागर रंगमंच का अभिसरण ही अपने आप में एक प्रयोग है और इस प्रयोग ने एक नए आधुनिक किंतु 'देशीय' अथवा 'देशज' कहे जाने वाले रंगमंच का अनुसंधान किया है। उसे एक नया रूप, एक नयी पहचान, एक नई सर्वव्यापक नाट्यपद्धति भी दी है। असल में इस प्रक्रिया ने एक नया 'टोटल थिएटर' (समग्र रंगमंच) अर्थात् लोकनागर रंगमंच हमें दिया है। जो एक नई नाट्यदृष्टि की प्रतीक थी।

लोक रंगमंच की विशेषताएँ :

लोक रंगमंच की नाट्यविधा एक धार्मिक विधा होती है जिसकी अभिव्यक्ति नाट्यात्मक रूप से होती है। यह एक प्रकार की नाट्यात्म विधि ही होती है। लोकजीवन का, लोकधारणाओं का, लोकविश्वास का प्रतिबिंब उसमें होता है। इसीलिए लोक समूह की जीवनदृष्टि भी उसमें झलकती है। लोकरंजन के साथ लोक उद्‌बोधन का उद्देश्य भी उसमें निहित होता है। इसकी आवाहन क्षमता भी लक्षणीय होती है।

मेक बिलीफ, संकेत विशेष, तंत्र विशेष, शैली विशेष लोक रंगमंच की खासियत होती है। समयस्फूर्त घटनाओं की योजना, दर्शकों की सहभागिता, नृत्य-संगीत का प्राबल्य, हास्य-व्यंग्य को प्राथमिकता, स्थल-काल और कृति के संदर्भ में लचीलापन, कथागत एवं वर्तमान यथार्थ का मिश्रण, भाषिक लचीलापन, कलात्मक आविष्कार का संदर्भ में युक्त होना, अखंडित सर्जनशीलता, लोकसंवाद का प्रभावी माध्यम, निवेदन, निरूपण शैली का अस्तित्व आदि उसकी विशेषताएँ होती हैं जो किसी भी सृजनशील रंगकर्मी का ध्यान लोकरंगमंच की ओर खींच सकती है।

महात्मा ज्योतिराव फुले कृत 'तृतीय रत्न'

मराठी रंगमंच पर गद्य नाटकों की परंपरा १८६० में शुरू हुई ऐसा कहा जाता है, किंतु असल में यह परंपरा भी ज्योतिराव फुले के 'तृतीय रत्न' नाटक द्वारा ही शुरू हुई। जिस काल में केवल पौराणिक और वह भी पद्यात्मक नाटकों का ही चलन था, उस समय इस परंपरा को तोड़कर ज्योतिराव फुले ने यह

नाटक लिखा। अब तक के नाटक पुराण नायकों के व्यक्तिदर्शन पर, कथाओं पर आधारित थे। किंतु फुले ने सर्वप्रथम आम इंसान (किसान) को नायक बनाया। उसके प्रश्नों को नाटक का विषय बनाया। लिखित परंपरा का प्रारंभ भी इसी नाटक ने किया। संविधानक, नाट्यरचना, कथावस्तु का विकास, चरित्रों का विकास, संवादों की विविधता, भाषिक विशेषता और अंत में प्रबोधनात्मक निरूपण इस रूप में 'तृतीय रत्न' में अनेक नए प्रयोग फुले ने किए हैं। पारंपरिक विदूषक को आधुनिक रूप में पेश किया। पारंपरिक नटेश्वरस्तवन, नांदी, पद्यरचना, आख्यान, नाट्यविधि एवं पूर्वरंग विधि को ख़ारिज किया।

'एलिनेशन थेअरी' तथा 'वी इफेक्ट' सिद्धांत, जिसका जनक ब्रेख्त को कहा जाता है। किंतु ब्रेख्त के जन्म के ४३ वर्ष पूर्व इस सिद्धांत का, इस तंत्र का प्रयोग फुले ने अपने इस नाटक द्वारा किया है। यथार्थवादी पुराणशैली (एपिक रियालिज़म) के एक सटीक उदाहरण के रूप में हम फुले के 'तृतीय रत्न' का विशेष रूप से उल्लेख कर सकते हैं। कुल मिलाकर नाट्यलेखन और प्रयोगात्मक नाट्यप्रदर्शन के परिप्रेक्ष्य में फुले का 'तृतीय रत्न' लोकनागर रंगमंच का पहला स्वर था।

संगीत स्थानिक स्वराज्य अथवा म्यूनिसिपालिटी

१९२५ में माधवराव जोशी ने तत्कालीन परंपरा से परे जाकर 'संगीत स्थानिक स्वराज्य अथवा म्यूनिसिपालिटी' शीर्षक नाटक की रचना की। लोकनागर रंगमंच का यह एक उत्कृष्ट उदाहरण था। १८५५ से १९२५ इस काल में लोक रंगमंच लगभग अपना अस्तित्व खो चुका था। शेक्सपिअर, इब्सेन, शॉ, मोलियर के नाटकों द्वारा निर्मित उपनिवेशवादी संस्कारों के प्रभाव ने मराठी रंगमंच को गुलाम बना लिया था। इस पार्श्वभूमी पर यह नाटक परंपराभंजक नाटक के रूप में सामने आया। तत्कालीन परंपरागत मराठी नागर रंगमंच के नाट्यतंत्र, नाट्यशैली तथा अभिरूचि को ताक पर रखकर उन्होंने इस लोकनागर रंगमंचीय प्रस्तुति को एक उदाहरण के रूप में पेश किया। उनका यह नाटक अपने आप में एक प्रयोग था। तत्कालीन समालोचकों की टिप्पणियों की भी उन्होंने परवाह नहीं की। नटी-सूत्रधार के प्रारंभिक संवादों में उन्होंने कहा 'देखिए मैं कुछ पाँच-दस पुराणपंथी, पाखंडी नाट्यसमालोचकों के लिए नाटक नहीं कर रहा हूँ। मुझे दर्शकों से कुछ नया कहना है। सूत्रधार के इस संवाद से उनकी भूमिका अधिक स्पष्ट होती है।

म्यूनिसीपालिटी के कामकाज का विडंबन उन्होंने वग लोकनाट्य शैली में

किया। उपहास, हास्य-व्यंग और समकालीन यथार्थ को उन्होंने प्रभावी रूप से नाट्यान्वित किया। लोकनाट्य शैली में उन्होंने आधुनिकता के प्रश्न दर्शकों के सामने रखे। शैली, तकनीक, भाषा, प्रस्तुतीकरण के पूर्ण परिप्रेक्ष्य में एक नयापन इस नाटक में था। आलेख और नाट्य प्रदर्शन इन दोनों दृष्टि से यह नाटक प्रयोगधर्मी था, आधुनिक था। 'नये नाटक' की सारी संभावनाएँ इस नाटक में थीं।

सौभद्र एवं शारदा :

मराठी रंगमंच के इतिहास में लोकप्रिय, चर्चित नाटकों में अण्णासाहब किर्लोस्कर के 'सौभद्र' तथा गोविंद बल्लाळ देवल का 'शारदा' नाटकों के नाम अग्रिम पंक्ति में लिए जाते हैं। मूलतः सौभद्र यह नाटक लोकशैली एवं अभिजात शैली के मिश्रण से बनी प्रस्तुति थी। कीर्तन, आख्यान इस रूपबंध से उसकी प्रकृति मिलती है, साथ ही उन्होंने अंग्रेजी काव्यपरंपरा के कुछ रस लेकर उसे देशी संगीत परंपरा में ढाले। एक प्रयोग के रूप में की गयी यह कृति लोकनागर रंगमंच को सशक्त करने वाली रही।

'शारदा' का विषय 'बाला-जरठ' (अनमेल) विवाह का निषेध करने वाला है। सामाजिक प्रश्न को नाट्यवस्तु बनाने का यह प्रयास था। इस नाटक का संगीत लोककला, लोकसंगीत का अनुसरण करने वाला था। लोकपरंपरा के कई शक्ति स्थलों का उपयोग किर्लोस्कर के साथ देवल ने भी किया। संस्कृत एवं अंग्रेजी नाट्यरचना के अनुकरण में नाट्यरचना, नाट्यशैली, संवाद आदि संदर्भ में देवल द्वारा नए प्रयोग किए गये। किंतु ये प्रयास बहुत सक्षम नहीं थे। लोकनागर रंगमंच के प्रयोग की धारा किर्लोस्कर, देवल के बाद तो लगभग खंडित हो गयी। अंग्रेजी नाटकों के अनुकरण का प्रभाव बढ़ता गया। उपनिवेशवादी संस्कारों ने इन प्रयासों को ध्वस्त कर दिया। सन १९२५ में माधवराव जोशी द्वारा रचित 'संगीत स्थानिक स्वराज्य अथवा म्यूनिसिपालिटी' नाटक का एक अपूर्व अपवाद छोड़कर १९६०-७० के दशक तक लोकनागर रंगमंच के विकास के सारे द्वार बंद हो चुके थे।

लोकनागर रंगमंच का साठोत्तरी दौर

साठ के दशक में मराठी रंगमंच पर प्रयोगधर्मी रंगमंच का दौर चल पड़ा। कुछ लोगों ने बेकेट, आयनेस्को, एब्सर्ड थिएटर जैसे नए नाट्यप्रवाह की राह चुनी। तो कुछ रंगकर्मियों ने अपनी मिट्टी की, अपनी ज़मीन की खोज शुरू की। लोक रंगमंच को नयी संभावनाओं की खोज का माध्यम बनाया गया।

अब तक दर्शक भी, जो मराठी रंगमंच का दौर चल रहा था, उससे बोरियत महसूस कर रहे थे। नई पीढ़ी को देशज कला के कलातत्व लुभाने लगे थे। ब्रेख्त का एपिक थिएटर भी आकर्षण का विषय बन चुका था। इस परिप्रेक्ष्य में लोक रंगमंच और मराठी नागर रंगमंच के अभिसरण की प्रक्रिया प्रयोग के रूप में शुरू हुई। इस प्रक्रिया में कई महत्वपूर्ण नाट्यकृतियों ने लोकनागर रंगमंच की नई परंपरा को समृद्ध बनाया; जो मील के पत्थर साबित हुए।

इन नाट्यकृतियों में घाशीराम कोतवाल (विजय तेंडूलकर), महानिर्वाण (सतीश आळेकर), पती गेले न काठेवाडी (व्यंकटेश माडगुळकर), पुढारी पाहिजे (पु.ल. देशपांडे), वरून कीर्तन आतून तमाशा (अशोकजी परांजपे), अल्वारा डाकू (पुरुषोत्तम बेंडे), झुलवा (चेतन दातार), लोककथा-७८ (रत्नाकर मतकरी), विच्छा माझी पुरी करा (वसंत सबनीस), गाढवाचं लगीन (हरीभाऊ वडगांवकर), थांबा, रामराज्य येतय! (प्रकाश त्रिभुवन), रायाबाई-भुलाबाई (सुधाकर गायधनी), खेळी मेळी (चंद्रशेखर फणसळकर), पोहा चालला महादेवा (ज.रा. फणसळकर), ग्यानबाची मेख (शाहीर साबळे) आदि स्वतंत्र नाट्यकृतियों के अलावा अनुवादित, रूपांतरित नाट्यकृतियों में हयवदन, नागमंगल (गिरीश कर्नाड), अजब न्याय वर्तुळाचा, तीन पैशाचा तमाशा, देवाजी ने करूणा केली (बर्टोल्ट ब्रेख्त), चांगुणा, गोफा चांभारांची बकुळा (फ्रेडरीक लोर्का), जुलूस (बादल सरकार) आदि नाटकों का उल्लेख करना अनिवार्य है। यह सभी नाटक बहुत दर्शकप्रिय हुए। लोकनागर रंगमंच की नाट्यधारा इन्हीं नाटकों ने समृद्ध की। मराठी रंगमंच के अद्वितीय नाटक घासीराम कोतवाल के रूप में समालोचकों ने विजय तेंडूलकर के इस नाटक को सराहा है।

कोंकण प्रदेश के नमन-खेले, कर्नाटक का यक्षगान, भागवत, महाराष्ट्र का कीर्तन, लावणी, बहुरूपी नाट्य, विवाह गीत आदि लोकरंगमंच की विधाएँ इस नाटक के रूपबंध हेतु ली गयीं। ऐतिहासिक दंतकथा को आधुनिक रूप में पेश किया गया। राजनीति तथा मानवी मन की क्रूरता को एक नए ढंग से पेश किया है। नाट्यरचना में भी तेंडूलकर द्वारा ऐसे लोकतत्व रखे गए जिसे निर्देशक डॉ. जब्बार पटेल द्वारा आकर्षक ढंग से उभारा गया। आधुनिक नाटकों का एक नया तत्व लोकनागर रंगमंच का विशेष बनकर उभरा। घासीराम कोतवाल की त्रासदी हमारी सामाजिक-राजनैतिक एवं नैतिक व्यवस्था की त्रासदी बनकर दर्शकों के मन को अस्वस्थ कर देती है। नाट्यलेखन एवं प्रयोग दोनों रूप से यह नाटक मील का पत्थर साबित हुआ है।

महानिर्वाण

मृत्यु के पश्चात होने वाले 'अंतिम संस्कार' के विधि को नाट्यात्मक विधि में रूपांतरित करने वाला यह नाटक सतीश आलेकर द्वारा लिखा गया। ब्लैक कॉमेडी के रूप में अपना सामाजिक यथार्थ नाटक के रूप मे लेखक ने प्रस्तुत किया है। कीर्तन शैली का उपयोग कर गोंधळी गीतों को हकश्राव्य रूप प्रदान कर महानिर्वाण का ताना-बाना बुना गया है। संतों द्वारा रचित रचनाओं का मूल स्वरूप कायम रखकर नाट्याशय के अनुसार, अनुकूल परिवर्तन कर गीत-संगीत का लोकधर्मी उपयोग किया है।

इस नाटक मे 'मृत नायक' बहिश्चर आत्मा के रूप में निवेदक, सूत्रधार की भूमिका में अपना प्रभाव छोड़ता है। समकालीन यथार्थ का तथा आदमी की अनुभूति का प्रभावी रूप यह नाटक व्यक्त करता है। नाट्यरचना में लोक एवं नागर तत्व प्रखर रूप में दिखाई देते हैं। नाटक का मंचन तो एक संपूर्ण रूप से एक नया प्रयोग है। मराठी रंगमंच के परिप्रेक्ष्य में महानिर्वाण एक अपूर्व अनुप्रयोग के रूप में हम देख सकते हैं। बीसवीं सदी का महानिर्वाण लोकनागर शैली में प्रस्तुत किया गया।

तेंडूलकर लिखित 'सरी ग सरी' नाटक फार्सिकल तमाशा के रूप में प्रस्तुत किया गया। वगनाट्य तथा लावणी का भी उपयोग किया गया। 'हयवदन' की प्राचीन लोककथा कानडी यक्षगान, भागवत के प्रारूप में प्रस्तुत की गयी। यक्षगान नृत्य शैली का उपयोग भी किया गया। 'विच्छा माझी पुरी करा' नाटक में लौकिक कथावस्तु वगनाट्य के रूप में मंचित कर समकालीन सामाजिक, राजनितीक यथार्थ को लोकनाट्य शैली में मंचित किया गया। 'अजब न्याय वर्तुळाचा' में मार्क्सवादी 'डायलेक्टिक्स' कोकणी दशावतार के रूपबंध में रखा गया। ब्रेख्त के (थ्री पेनी अपेरा) 'तीन पैशाचा तमाशा' को देशज वस्त्रसज्जा, रूप सज्जा प्रदान कर एक नई लोकनाट्य शैली में उजागर किया गया। लोक रंगमंच की विशेषताएँ यहाँ नाटक के मूल रूप में विलीन होती दिखाई देती हैं। आधुनिक लोककथा का नया प्रारूप यह नाटक प्रस्तुत करता है। सामाजिक संघर्ष का तीखा स्वर लोकनागर रंगमंच की नई पहचान बनी है।

'जागरण' नामक लोकविधि को परिष्कृत कर 'खंडोबाचं लगीन' नाटक सिद्ध हुआ है। भवई नाट्यशैली में 'पती गेले ग काठेवाडी' ने 'नारीवादी' आशय को लोकशैली में प्रस्तुत कर एक नई आधुनिकता को मुखरित किया है। 'दर्शन' नाटक में कृष्ण-ब्रह्मदेव ईश्वर पात्र आम आदमियों के रूप में रंगमंच पर आते

हैं। 'लोकसंत गाडगेबाबा' नाटक का तानाबाना वासुदेव, भारूड, पोतराज, गोंधळ, कीर्तन, ओवी, भजन जैसी लोककला द्वारा बुना गया। विदर्भ की लोक संस्कृति का दर्शन इस नाटक द्वारा होता है। 'रायाबाई-भुलाबाई', 'पोहा चालला महादेवा' जैसे नाटक भी विदर्भ के लोकरंगमंच के आधुनिक स्वरूप को प्रस्तुत कर लोकनागर रंगमंच के नए उदाहरण को प्रस्तुत करते हैं। 'थांबा रामराज्य येतय!' यह दलित नाटक 'पोतराज' तथा दशावतार इन विधिनाट्यात्मकता का उपयोग करता है। पोतराज का चरित्र के रूप में उपयोग कर एक नयी दृष्टि का अनुसंधान करता है। विषयवस्तु है दलित वर्ग के प्रश्नों की, लेकिन उसकी प्रस्तुति उतनी ही कलात्मक है।

'गाढवाचं लगीन' वगनाट्य रूपबंध की अप्रतिम व्यक्ति है। 'सोंगाड्या' इस चरित्र का उपयोग इस नाटक की विशेषतः है। 'विच्छा माझी पुरी करा' यह नाटक भी इसी श्रृंखला में सर्वश्रेष्ठ लोकनागर नाटक का ना हैं। दंत कथा को आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया गया है। लोक जागर रंगमंच पर यह दंतकथाएँ न रहकर वर्तमान की कथाएँ बन जाती हैं। इन सारी नाट्यकृतियों के उपस्थित 'लोकतत्व' लोकनागर रंगमंच का आधार है। इस लोकतत्व को नागर नाट्यतत्व का केवल स्वर ही नहीं बल्कि आत्मा बनते हम देख सकते हैं। सामाजिक परिवर्तन के आंदोलन में भी लोकनागर रंगमंच ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। इस संदर्भ में महात्मा ज्योतिराव फुले की विचारधारा से प्रणीत सत्यशोधक जलसे, डॉ. बाबासाहेब अंबेडकर की विचारधारा और व्यक्तित्व को मंचित करने वाले अंबेडकरी जलसे आदि नाट्यविधाओं का उल्लेख करना भी अनिवार्य है। सामाजिक जागरण, चेतना और जनजागरण की प्रक्रिया में इन जलसों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। लोकनागर रंगमंच के प्रारूप की, रूपबंध की यह उल्लेखनीय प्रस्तुति रही है।

कुल मिलाकर लोक रंगमंच एक संपूर्ण और समग्र रंगमंच है। एक पूर्ण नाट्यानुभव देने वाली नाट्यविधा है। स्थलकालातीत प्रकृति, शोषकों की मनोवृत्ति पर भाष्य, आधुनिकता का प्रतीकात्मक परिप्रेक्ष्य, श्वाश्वत सत्य की पुनर्स्थापना, सामाजिक यथार्थ की प्रखर अभिव्यक्ति, लोकतत्व का आधुनिकीकरण, लोकनागर रंगमंच की विशेषता है। प्रभावी आवाहन क्षमता, उसका लचीलापन, मर्यादित रंगमंच पर भी नाट्यावकाश को अधिक्रमित करने की क्षमता, स्थल-काल तथा 'मेक बिलीफ' तकनीक को आधार किया जाने वाला सरलीकरण तथा साधारणीकरण, कथावस्तु, अभिनय शैली की गतिमानता आदि गुणों के

कारण लोकनागर रंगमंच दर्शकों को भी अधिक प्रभावित करता रहा है। अपनी जड़ों तक जाने का, अपनी मिट्टी की सौंधी खुशबू पाने का और अपनी ज़मीन को आसमान तक ले जाने का प्रयास लोकनागर रंगमंच करता है।

■■■

नाट्य प्रबोधन

- झाडीपट्टी नाट्य प्रबोधन
- अखबार और नाट्य समीक्षा

झाडीपट्टी नाट्य प्रबोधन

महाराष्ट्र राज्य के प्राचीन विदर्भ प्रदेश के पूर्व क्षेत्र को झाडीपट्टी कहा जाता है। इस प्रदेश में हर वर्ष अक्टूबर से मार्च तक 'झाडीपट्टी नाट्य समारोह' नामक नाट्य समारोह अलग-अलग गावों में, अलग-अलग मंडलियां आयोजित करती हैं। राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी इसे एक अनोखा, अलग, बिरला और विशेष नाट्य समारोह कहा जाता है। बदलते समय और बदलती दुनिया के परिप्रेक्ष्य में यह एक नाट्य समारोह नहीं बल्कि एक सांस्कृतिक धरोहर है, जिसने इस प्रदेश के जनमानस को जीवन का धरातल दिया और एक नये पर्यावरण का भी निर्माण किया है। जनसंचार के माध्यम के रूप में भी यह नाट्य समारोह अपनी कारगर भूमिका निभाता है। गति से बदलती दुनिया में इस प्रदेश के लोगों के तनाव, संघर्ष और मतभेद भुलाने में मदद करने के लिए यह नाट्य समारोह अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

पूर्व विदर्भ के चंद्रपुर, गडचिरोली, भंडारा तथा गादिया इन चारों जिलों को जोड़नेवाला जंगल का क्षेत्र तथा जंगल के किनारों से सटा खेतीवाला क्षेत्र झाडीपट्टी कहा जाता है। देश के भौगोलिक मध्य केन्द्र नागपुर से झाडीपट्टी प्रदेश करीबन १५०-२०० किलोमीटर दूरी पर है। यहाँ आदिवासी जनसंख्या भी बड़े पैमाने में है। छत्तीसगढ़, आंध्रप्रदेश तथा मध्यप्रदेश से यह इलाका सटा होने के कारण इस क्षेत्र को नक्सली गतिविधियों ने बहुत प्रभावित किया है। सरकार ने इस प्रदेश को 'नक्सल ग्रस्त' क्षेत्र घोषित किया है।

'झाडी' का अर्थ होता है - जंगल तथा 'पट्टी' अर्थ होता है खेत। इसलिए इस प्रदेश को 'झाडीपट्टी' कहा जाता है। यहाँ का आम आदमी किसान है या खेतिहर मजदूर है। खेती यहां का मुख्य आर्थिक स्त्रोत है। कृषि कार्य के समय सारणी के अनुसार यहाँ ये नाट्य समारोह आयोजित किया जाता है। आम तौर पर कोई एक संस्था, कुछ प्रायोजकों की मदद से किसी एक जगह पर विविध नाट्य संस्थाओं को आंमत्रित कर नाट्य प्रदर्शन करवाती है। किंतु झाडीपट्टी नाट्य समारोह इस परम्परागत नाट्य समारोह से परिकल्पना, आयोजन और प्रस्तुति के स्तर पर बिल्कुल ही भिन्न है।

झाडीपट्टी प्रदेश में आज ५० से अधिक नाटक मंडलियां हैं। ये मंडलियां अपने नाटक कई गावों में जाकर प्रस्तुत करती हैं। इसे हम 'टूरींग थिएटर फेस्टीवल' भी कह सकते हैं। करीबन १५० वर्ष से झाडीपट्टी नाट्य समारोह का आयोजन किया

जा रहा है। प्रसिद्ध पत्रकार पी. साईनाथ कहते है -

"This Uniquely eastern vidharbha theatre gives full time work to some the year round. And employment thousands each season During the off- agriculture season, It earns a livelihood for labourers, tailors, carpenters, painters, venders, Farmers, the like. It cast up to Rs. 80,000 to stage a play at big centers" अक्टूबर से मार्च तक अर्थात लगातार छह माह यह समारोह जारी रहता है। करीबन १०,००० लोग इसमें विविध भूमिकाओं में शामिल होते हैं। इन छह माह में ५० करोड़ रुपये का व्यापार किया जाता है। करीबन विभिन्न नाटकों के ३००० प्रदर्शन रात्रि १० बजे से प्रातः चार-पाँच बजे तक किये जाते हैं।

'दंढार' नामक लोकनाट्य से झाडीपट्टी रंगमंच का विकसित हुआ है। यह पारंपरिक दंढार लोकनाट्य आज भी जीवित अवस्था में है किंतु उसका प्रदर्शन केवल कुछ खास उत्सव, त्यौहार के प्रसंग पर विधिनाट्य के रूप में होता है। इस पारंपरिक लोकनाट्य से आज झाडीपट्टी रंगमंच का स्वरूप बिल्कुल अलग है। यहां के नाटक न मुख्य धारा के नाटक जैसे हैं, न पूरी तरह पारंपरिक लोकनाट्य जैसे। समय के चलते झाडीपट्टी रंगमंच ने अपना शिल्प तथा अपनी शैली प्राप्त कर ली है, तथा लोकप्रियता के साथ आर्थिक सम्पन्नता भी। हर प्रदर्शन को देखनेवाले दर्शकों की संख्या पांच से छह हजार होती है। एक नाटक की आय करीबन एक लाख से पाँच लाख रुपये तक होती है। कलाकार, अभिनेता तथा तकनीकी विशेषज्ञों को हर प्रदर्शन के लिए एक हजार से आठ हजार तक की नाइट मानदेय के रूप में अदा की जाती है। एक थिएटर इंडस्ट्री के रूप में 'झाडीपट्टी नाट्य समारोह' को देखा जा सकता है।

इस महोत्सव में जिन नाटकों का प्रदर्शन होता है, उसके लेखक आम तौर पर इसी क्षेत्र के होते हैं। नाटकों के विषय पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनैतिक, भक्तिपरक, रहस्यमय होते हैं। नाटकों की अवधि करीबन पाँच-छह घंटों की होती है। हर नाटक में करीबन पंद्रह-बीस कलाकार होते हैं। ज़्यादातर नाटकों मे लावणी नृत्य होता है। कलाकार ही लाईव गाने गाते हैं। इसे हम संगीत रंगमंच भी कह सकते हैं। अभिनय शैली अतिरंजनापूर्ण होती है। सभी 'रसों' की अनुभूति ये नाटक कराते हैं। मेलोड्रेमेटिक फिल्मों की तरह उसका स्वरूप होता है। कुछ अपवाद छोड़कर ये सभी नाट्य प्रदर्शन टेन्टो नुमा प्रेक्षागृह में होते हैं। नाट्य प्रदर्शन होने के पश्चात इस प्रेक्षागृह को हटा दिया जाता है।

हर गांव में लोगों व्दारा नाटक मंडली बनाई जाती है, जिसमें किसान, दर्जी, कुम्हार, बढ़ई, लुहार, खेत मजदूर, पेंटर, ड्राईवर, बावर्ची तथा अध्यापक सभी लोग

सभी प्रकार की भूमिकाएं अदा करते हैं। इसे हम 'थिएटर कार्निवल' भी कह सकते हैं। सरकार, उद्योगपति, कार्पोरेट कंपनियाँ, मल्टी नेशनल कंपनी, बैंक, फायनान्सर, स्पॉन्सर किसी से भी, किसी प्रकार की सहायता लिए बिना नाटकों का निर्माण और प्रदर्शन सफलतापूर्वक किया जाता है। यहाँ के लोग ही इस समारोह की सच्ची ताकत है। खून-पसीने की कमाई का कुछ हिस्सा स्वेच्छा से 'टिकट' के रूप में 'इन्वेस्ट' करते हैं और अपनी सांस्कृतिक धरोहर को संजोए रखते हैं।

इस क्षेत्र की सांस्कृतिक राजधानी 'कुरूड' नामक गांव है, जिसमें समारोह के उद्घाटन के अवसर पर एक ही दिन में एक साथ नौ नाटकों का प्रदर्शन सफलतापूर्वक किया जाता है तथा वडसा नामक एक गांव है, जिसे झाडीपट्टी रंगमंच की औद्योगिक राजधानी कहा जाता है। वडसा गांव ऐसा गांव हैं, जहां नाट्य प्रदर्शन हेतु आवश्यक सभी सुविधाएं मिलती हैं। सभी प्रकार की छपाई, मुद्रण सुविधा से इवेंट मैनेजमेंट तक, टैन्ट्स से लेकर यात्री गाड़ियां, ध्वनि व्यवस्था, लाइटिंग सिस्टम, नेपथ्य सामग्री से वस्त्रसज्जा तक। सही मायने में यह झाडीपट्टी का 'थिएटर मार्केट' है।

आम तौर पर झाडीपट्टी रंगमंच में स्थानीय महिलाएं भूमिका अदा नहीं करतीं। शायद परंपराओं ने स्थानिक महिलाओं को यह अनुमति नहीं दी। इसीलिए वर्षों से मुंबई, पुणे, ठाणे, औरंगाबाद, नागपुर, अमरावती जैसे शहरों से महिला कलाकारों को ये नाटक मंडलियां मौखिक रूप से अनुबंधित करती हैं, जिसमें वडसा के ईवेंट मैनेजर 'कास्टिंग डायरेक्टर' जैसी भूमिका अदा करते हैं। यहाँ इन महिला कलाकारों को बहुत सम्मान से देखा जाता है। गांव के लोग उनकी बहुत इज्जत करते हैं। उनका सम्मान गांव की प्रतिष्ठा समझी जाती है।

आज भूमंडलीकरण, इलेक्ट्रॉनिक जनसंचार माध्यम और आधुनिकता के प्रभाव में देशभर में थिएटर मर रहा है। लोककलाएं, लोकसंस्कृति लुप्त होती जा रही है। वहीं १५० वर्षों से झाडीपट्टी रंगमंच ज़िंदा है। केवल ज़िंदा ही क्यों अपनी विशेषताओं के साथ फल-फूल रहा है। आर्थिक परिप्रेक्ष्य में, मनोरंजन उद्योग के रूप में भी इस रंगमंच ने अपने आप को स्थापित किया है। जहां देश के कई हिस्सों में किसान आसमानी, सुलतानी संकट, गरीबी, पिछड़ापन, अकाल, कर्ज आदि के कारण आत्महत्या कर रहे हैं। इसी समस्या से झाडीपट्टी प्रदेश के किसान भी जूझ रहे हैं। लेकिन इस प्रदेश के किसी किसान ने कभी आत्महत्या नहीं की। जिसका श्रेय झाडीपट्टी नाट्य समारोह की सांस्कृतिक धरोहर को दिया जा सकता है; क्योंकि यही धरोहर यहाँ के किसानों को भी नैतिक, आत्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सक्षम बनाते हैं। झाडीपट्टी के लोगों की सांसों में, नसों में रंगमंच बसा हुआ है। रंगमंच से प्रेम, आस्था यहाँ के हर घर की परंपरा है और सामाजिक कर्तव्य भी।

साथ ही सांस्कृतिक उत्तरदायित्व की भावना से झाडीपट्टी नाट्य समारोह एक ऐसा उत्सव है, जो इस प्रदेश को मनोवैज्ञानिक रूप से भी चैतन्यशील और ऊर्जावान बनाता है।

यह नाट्य समारोह सही मायने में 'विलेजर्स फेस्टीवल' है। 'पिपल्स फेस्टीवल' है। 'फार्मर्स फेस्टीवल' है। रंग आलोचक डॉ. अजय जोशी कहते हैं -

"Zadipatti Theatre is like a sooraj Barjatya film. Unfolding before your eyes- with songs, live orchestras, dramatic lights and many character's on stage. It was also started to keep the farmers entertained and engrossed after the harvest. It is truly democratic- by the villagers for the villagers and of the villagers"

इसे एक 'डेमोक्रेटिक थिएटर फेस्टीवल' कहा जा सकता है। बगैर प्रशिक्षण लिए भी अनुभवों से प्रशिक्षित होकर गांव का आम आदमी भी एक अच्छा नाटककार, अभिनेता, तकनीकी विशेषज्ञ, गायक, संगीतकार, मैनेजर, दृश्य विन्यासकार, प्रकाश विन्यासकार, वस्त्रसज्जाकार, रूपसज्जाकार, इवेंट मैनजर बन जाता है। जिस निष्ठा और लगन से वह खेती करता है, अनाज उगाता है, उसी परिश्रम, लगन, निष्ठा से इस नाट्य समारोह का आयोजन कर उसमें अपनी सक्रिय भूमिका भी अदा करता है। खेती उसका पेट भरती है, तो यह नाट्य समारोह उसे ज़िंदगी जीने का हौसला प्रदान करता है। उसे मनोवैज्ञानिक रूप से, नैतिक रूप से, आत्मिक, भावनिक रूप से सक्षम बनाता है।

पिछले कुछ वर्षों से झाडीपट्टी रंगमंच को सटे हुए राज्यों से आए भोजपुरी, धमाल, हंगामा जैसे फुहड़ और अश्लील नृत्य, नाट्य, लोकनाट्य कार्यक्रम चुनौती दे रहे हैं। कुछ बाहरी इवेंट मैनेजमेंट कंपनियां भूमंडलीकरण के बढ़ते प्रकोप का फायदा उठाकर, पैसा बनाने की लालच और होड़ में ये नंगे हंगामे, नंगे धमाल झाडीपट्टी दर्शकों के सामने परोस रही हैं। कुछ पैमाने में युवा पीढ़ी भी उस हंगामे की ओर आकर्षित हो रही है। किंतु उससे लड़ने की क्षमता झाडीपट्टी रंगमंच में है, क्योंकि यह रंगमंच यहाँ के लोगों की जीवन धारणा, मान्यता, परंपरा और जिजीविषा से जन्मा है। यह रंगमंच उनकी पहचान का, अस्मिता का ही नहीं बल्कि अस्तित्व का प्रतीक है। झाडीपट्टी नाट्य समारोह इन लोगों की आशा-आकांक्षाएं, भावनाएं, उनकी सोच, समझ, रिश्ते-नाते, संस्कार, परंपराएं, संस्कृति को सहेजता है। इसीलिए इन लोगों के जीवन से यह समारोह 'सांस' और नब्ज़ में 'खून' का काम करता है।

■■■

अखबार और नाट्य समीक्षा

मराठी अखबारों में प्रकाशित होने वाली नाट्य समीक्षा का १६७ सालों का इतिहास है। सोलह फरवरी १८५३ को *'The Bombay Times'* दैनिक अखबार में विष्णुदास भावे के नाटकों पर लिखा गया था। इसके पश्चात इसी वर्ष ८ मार्च तथा ११ मार्च को भी विष्णुदास भावे के अन्य नाटकों के साथ *'Bombay Times'* ने संपादकीय में भी इन नाट्य प्रदर्शनों के बारे में समीक्षात्मक टिप्पणियाँ की थीं। मराठी नाटक की यह पहली समीक्षा मानी जाती थी, किंतु यह नाट्य समीक्षा अंग्रेजी में थी।

असल में मराठी अखबारीय समीक्षा का प्रारंभ, सांगलीकर नाटक कंपनी ने पूना में १८५५ में प्रस्तुत किए नाटकों पर 'ज्ञानप्रकाश' में लिखी नाट्य-समीक्षा के माध्यम से हुआ। इसे मराठी में, मराठी नाटकों पर लिखी पहली मराठी नाट्य समीक्षा माना जाता है। इसके पश्चात १८६७ से 'विविध ज्ञान विस्तार' ने ६५ सालों तक मराठी नाट्यसमीक्षा प्रकाशित करने का कार्य किया। उस काल में 'ज्ञानप्रसारक', 'शालापत्रक', 'इंदूप्रकाश', 'निबंधचंद्रिका', 'मनोरंजन', 'निर्भिड', 'उषा', 'रत्नाशंकर', 'बालबोध', 'मुमुक्षू' आदि नियतकालिकों में नियमित रूप में नाट्य समीक्षा प्रकाशित होती रही, किंतु अखबारों में नाट्य समीक्षा प्रकाशित होने का दौर १९०८ से शुरू हुआ। जिसका आरंभ 'केसरी' में प्रकाशित नाट्य समीक्षा द्वारा हुआ। तात्पर्य मराठी आंचलिक अखबारीय नाट्य समीक्षा को सौ साल का इतिहास है। केवल रंगमंच को समर्पित, मराठी रंगभूमी (१९०३), नाट्यकला (१९०४), रंगभूमी (१९०७) आदि माहवारी साप्ताहिक भी शुरू किए गए, जिसकी परंपरा 'नाटक', 'नांदी', 'नाट्यदर्पण', 'भरतशास्त्र', 'नाट्यभूमी', 'समांतर' ने आगे बढ़ायी। आज दैनिक सकाळ द्वारा प्रकाशित 'नाट्यरंग' यह त्रैमासिक इसी परंपरा को आगे बढ़ा रहा है। साथ ही महाराष्ट्र में आज प्रकाशित होने वाले लोकसत्ता, महाराष्ट्र टाईम्स, लोकमत, तरुण भारत, सामना, गावकरी, पुण्यनगरी, नवा काळ जैसे आंचलिक तथा अन्य कई स्थानिक अखबार नियमित रूप से नाट्य समीक्षा प्रकाशित करते हैं।

अखबारों में प्रकाशित होने वाली नाट्य समीक्षा मूलतः नाट्य प्रयोग की समीक्षा होती है। यह पाठक, दर्शक तथा नाटक के बीच सेतु का कार्य करती है तथा नाट्यरुचि के विकास की प्रक्रिया में अपनी अहम भूमिका अदा करती है। निश्चित रूप से दर्शकों पर प्रभाव डालने का कार्य भी करती है। इसीलिए इस नाट्य समीक्षा का अपना एक विशेष स्थान है, महत्व है और उपयोगिता भी है। आज की स्थिति में रंगमंच की गतिविधियों को उजागर करने का कार्य, रंगमंच की वर्तमान स्थिति पर

विचार विमर्श करने का तथा करवाने का कार्य यह नाट्य समीक्षा कर रही है। हालाँकि आज यह अखबारों के व्यावसायिक ज़रूरतों का यह हिस्सा भी है। इसके बावजूद भी इसकी भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है, जिसे हम नज़रअंदाज नहीं कर सकते। साथ ही इस नाट्य समीक्षा से जुड़ी खामियों को भी नज़र अंदाज नहीं कर सकते।

इस परिप्रेक्ष्य में कुछ सवाल आज हमारे समक्ष हैं, जो इन खामियों को मूलरूप से उजागर करते हैं। अखबार में नाट्य समीक्षा लिखनेवालों के तीन वर्ग हैं जिसमें एक होता है नौकरीपेशा पत्रकार, दूसरा प्राध्यापक, अध्यापक और तीसरा होता अमैच्योर कलाकार या लेखक। इनमें से कोई भी नाटकों का विशेषज्ञ नहीं होता है इसीलिए इन समीक्षकों की योग्यता का प्रश्न निर्माण होता है। इसके अलावा अखबार की भूमिका, व्यवसाय की नीतियाँ भी इस नाट्य समीक्षा के संदर्भ में कई प्रश्न खड़े करती हैं। आमतौर पर नाट्य समीक्षा के प्रति संपादक का दृष्टिकोण बहुत ही महत्वूंपर्ण होता है। उसका सकारात्मक दृष्टिकोण इस समीक्षा के लिए विशेष रूप से सहायक होता है। मगर यह स्थिति निश्चित रूप से अपवाद के रूप में हमें देखने को मिलती है। परिणाम स्वरूप मर्यादित स्थान, औपचारिकता, 'ड्यूटी ओनली' की भूमिका आदि विपरीत परिस्थितियों में अखबारीय नाट्य समीक्षा का अस्तित्व खतरे में आ जाता है। अगर अखबार का संपादक तथा उस अखबार की नीतियाँ सकारात्मक हैं, तो अगला सवाल नाट्य समीक्षा लिखने वाले की योग्यता के संदर्भ में उपस्थित होता है। तीसरा प्रश्न है मूलतः अखबारीय नाट्य समीक्षा के स्वरूप का।

अखबार का पाठक ही इस समीक्षा का केंद्र होता है; जो विशाल है। जिनमें नाट्यरुचि नहीं होने वाले भी शामिल होते हैं। इसलिए इस समीक्षा का ढाँचा रिपोर्ताज के रूप में, नाट्य परीक्षण के रूप में, खबर के या फीचर के रूप में होता है। यह समीक्षा सैद्धांतिक या सूक्ष्म रूप में नहीं होती है। अखबार का सर्क्यूलेशन बढ़ाना, विज्ञापन का स्रोत बढ़ाना, यह अखबार का मुख्य उद्देश्य होने के कारण 'नाट्य समीक्षा' बाज़ारू होने का डर अधिक होता है। कई बार नाटक कंपनियों द्वारा विज्ञापन का लालच दिया जाता है जिससे भी सच्ची नाट्य समीक्षा खतरे में पड़ जाती है। मूलभूत तत्वों के आधार पर होने वाली समीक्षा का अभाव, समीक्षा लेखक की रंगमंच संबंधित ज्ञान तथा अनुभव की कमी, नाटक का व्यक्तिगत तौर पर रसग्रहण, 'ड्यूटी ओनली' की मानसिकता, अभ्यास, मेहनत, रुचि का अभाव, संवेदनशीलता का अभाव, सृजनात्मक मानसिकता का अभाव आदि खामियों के कारण अखबार की नाट्य समीक्षा मात्र बेजान 'रिपोर्ताज' बन जाती है। अभिनय, कथावस्तु तथा व्यक्तिगत टिप्पणियों पर यह समीक्षा केंद्रित हो जाती है। निर्देशन, प्रकाश, संगीत, निर्माणमूल्य, प्रदर्शनमूल्य, प्रासंगिकता आदि नाटक की महत्वपूर्ण इकाइयों की उपेक्षा

हो जाती हैं। संपादक की संकुचित भूमिका तथा अखबार की नीतियाँ भी इस समीक्षा को अधिक खामियाँ प्रदान करती हैं। आमतौर पर अखबारीय नाट्य समीक्षा की अवस्था आज हम देख सकते हैं।

निश्चित तौर पर इस नाट्य समीक्षा की अपनी मर्यादाएँ हैं। इसके बावजूद आंचलिक मराठी अखबारीय नाट्य समीक्षा आंचलिक रंगमंच के विकास में अहम भूमिका अदा कर सकती है। उसके लिए अखबार का सकारात्मक दृष्टिकोण निहायत ज़रूरी है। महाराष्ट्र में अपवाद के रूप में कुछ अखबार हैं, जिन्होंने अखबारीय नाट्य समीक्षा को पहचान दी, अपनी आवाज़ दी, उसे दर्जा दिया, उसकी उपयोगिता के मूल्य को प्रतिष्ठित किया, इसे नकारा नहीं जा सकता किंतु यह आंकड़ा मर्यादित रूप में है। अन्य अखबारों का दृष्टिकोण, भूमिका, नीतियों में बदलाव आना अत्यावश्यक है। अगर इस नाट्य समीक्षा को गंभीरता से लिया जाता है, तो सामाजिक-सांस्कृतिक-कला क्षेत्र से संबंधित संवेदनाएँ अधिक समृद्ध बन सकती हैं। समाज की रूचि-अभिरुचि को नई दिशाएँ प्रदान की जा सकती हैं।

अखबार इस नाट्य समीक्षा को अगर अपनी सांस्कृतिक ज़िम्मेदारी समझे तो इस स्थिति में सुधार जरूर हो सकता है। पाठक की रुचि-अभिरुचि का विकास गति प्राप्त कर सकता है। पर्याप्त स्थान, तथा नाट्य समीक्षक को सम्यक आज़ादी मिले। विशेषीकृत व्यक्ति, पत्रकार को नियुक्त करे। इतना भी अगर कोई अखबार कर सकता है, तो निश्चित ही आज का चित्र बदल सकता है। किंतु मूल ज़िम्मेदारी है अखबार में नाट्य समीक्षा लिखनेवाले लेखकों की। वे ही सही अर्थों में अखबारीय नाट्य समीक्षा की मौलिकता बढ़ा सकते हैं, उसकी उपयोगिता बढ़ा सकते हैं। आदर्श अखबारीय नाट्य समीक्षा के बारे में केनेथ टायनन कहते हैं - *'His Job is to record a unique experience as if impinged on his mind and sensibility"* अगर नाट्य समीक्षक विचार और मन से नाट्यानुभव ग्रहण करे तब भी वह अपने पाठकों को भी कुछ अच्छे अनुभव प्रदान कर सकता है। *'Best Responsibility* is *to the people who read it first'* यह उसकी एक अच्छी एवं पहली ज़िम्मेदारी है। इसके लिए उसे अपने आपको बेहतर साबित करना ज़रूरी है।

'नाटक', नाट्यशास्त्र, नाट्य समीक्षा का सम्यक अध्ययन कर अपनी दृष्टि, भूमिका को विकसित करना उसका पहला कर्तव्य है। वह अच्छा भाष्यकार *(Interpreter),* विश्लेषक *(Analyzer),* समीक्षक *(Critic)* बन सकता है। एक प्रदर्शन का नाट्यगत अनुभव पाठकों तक पहुँचाने के लिए नाटक के प्रदर्शन आलेख की समझ दृष्यात्मकता की ग्रहण क्षमता, संवेदनशीलता को निखारने की ज़रूरत होती है। नाट्य समीक्षा एक सृजनात्मक कार्य है। उसकी कुछ माँगे होती हैं। इतना ही नहीं बल्कि वह एक 'यज्ञ' भी होता है। "देवानमि दमामनन्ति मुनयः कान ऋतु चाक्षुषं"

तात्पर्य इस आँखों के यज्ञ के लिए समर्पण की ज़रूरत होती है। नाटक की संपूर्ण प्रक्रिया आस्वाद की प्रक्रिया है, जो उसे अपने पाठकों तक पहुँचाना होता है। इस हेतु उसे नाटक और पाठक, नाटक और दर्शक इस रिश्ते को बखूबी समझना चाहिए।

नाट्य समीक्षक को अपनी समीक्षा द्वारा पाठकों को एक दृष्टि प्रदान करना चाहिए। वह नाटक के प्रयोगमूल्य, साहित्यमूल्य को पाठकों तक पहुँचाए ताकि पाठक, प्रेक्षक के रूप में अपने आपको तैयार कर सकें। इसलिए यह समीक्षा रसग्रहणात्मक होनी चाहिए। वह केवल परिचयात्मक न लिखे। केवल टिप्पणियाँ न करे। उसे अधिक संश्लिष्ट न बनाए। सूचना, ज्ञान, तंत्र तथा नाट्याभ्यास कर स्वयम् को परिपूर्ण बनाने का काम इन नाट्य समीक्षकों द्वारा किया जाना चाहिए। ऐसे नाट्य समीक्षकों को संपादक द्वारा उचित आज़ादी मुहैया कराने की आवश्यकता है। विविध नाट्यशिविर, कार्यशाला आदि में सहभाग हेतु अनुमति देनी चाहिए। 'नाट्य प्रतिनिधि' का पद निर्माण कर उसे पर्याप्त जगह उपलब्ध करा देनी चाहिए, या जिस पत्रकार की नाटक में रुचि हो उसे उस क्षेत्र (बीट) की ज़िम्मेदारी सौंप दी जानी चाहिए।

आमतौर पर सामान्य पाठक किताबी समीक्षा नहीं पढ़ते। साहित्यिक, सैद्धांतिक समीक्षा वे नहीं पढ़ते। इस परिप्रेक्ष्य में ऐसे पाठक-दर्शकों के मन में नाटक के प्रति रुझान या रुचि पैदा करने का काम अखबारीय नाट्य समीक्षक द्वारा किया जाना चाहिए। स्थानिक, आंचलिक रंगमंच के विकास हेतु अखबारीय नाट्य समीक्षा द्वारा एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की जानी चाहिए। महाराष्ट्र में माधव मनोहर, ज्ञानेश्वर नाडकर्णी, कमलाकर नाडकर्णी, माधव वझे, सुरेशचंद्र पाध्ये, जयंत पवार, अरुण घाडीगांवकर, निलीमा जांगडा, रवींद्र पाथरे, संजय डहाके, वसंत सदाशिव नानल, प्रकाश एदलाबादकर, अभिषेक खुळे, निरंजन मार्कंडेयवार, अशीष यावले आदि नाट्य समीक्षकों ने आंचलिक तथा मुख्य् प्रवाह के रंगमंच को अपनी कलम से नई दिशा दी है।

सौ सालों से अधिक वर्षों की परंपरा होने के बाद भी अखबारीय नाट्य समीक्षा के प्रति कुछ अपवादों को छोड़कर कुछ खास दृष्टिकोण नहीं बन पाया है। इसके लिए जब तक अखबार अपना दृष्टिकोण नहीं बदलते तब तक कुछ खास नहीं हो सकता। अपने नाट्य प्रतिनिधि को खास प्रशिक्षण नहीं मिलेगा, जब तक उनका रिफ्रेशर, ओरिएंटेशन नहीं होगा, तब तक यह नाट्य समीक्षक भी कुछ सकारात्मक नहीं कर पायेंगे। अखबारों की नीतियों में इस क्षेत्र को प्राथमिकता दी जाने की ज़रूरत है। आज़ादी एवं सुविधाएं उपलब्ध करने के लिए अखबार के मैनेजमेंट को कदम उठाने चाहिए। साथ ही केंद्रीय नाट्य संस्थानों को भी ऐसे पत्रकार समीक्षकों के लिए वर्कशॉप आयोजित करने चाहिए। अखबारीय नाट्य समीक्षकों को भी नाट्य समीक्षा क्षेत्र पूर्व तैयारी करना चाहिए। संवाद, चर्चा, चिंतन को भी प्राथमिकता देनी चाहिए। तभी इस नाट्य समीक्षा को मौलिकता प्राप्त हो सकेगी।

■■■

साक्षात्कार

▌ सामाजिक प्रतिबद्धता के बगैर रंगमंच की सार्थकता नहीं

साक्षात्कार

सामाजिक प्रतिबद्धता के बगैर रंगमंच की सार्थकता नहीं!

डॉ. सतीश पावडे का डॉ. डी.एन. प्रसाद द्वारा लिया गया साक्षात्कार

('नट' और 'नाट्य' के मध्य जो-जो गैप है, उसको अपनी नाट्यधर्मिता से संपूरित करने का काम नाट्यधर्मी डॉ. सतीश पावडे का नटधर्म है। उनसे डॉ. डी.एन. प्रसाद की हुई बातचीत की यह अविकल प्रस्तुति)

प्रश्न १ :- 'नट' से 'नाट्य' बना शब्द क्या अभिप्राय देता है, जबकि नट लोक में अलग और शास्त्र में अलग अर्थ देता है। इस बारे में विस्तार से बताएं ताकि आमजन नट और नाट्य का भावार्थ अंगीकृत कर नाट्यरस ले सके।

उत्तर :- मेरे लिए रंगकर्म एक अनुभव यात्रा है, जिसमें नट एक अनिवार्य इकाई है। प्राचीन काल में नट एक कलोपजीवी गणसमाज था। यही उनका पेशा भी था। 'नटन क्रिया' को नाटक कहा जाता था। असल में 'नाटक' शब्द का प्रयोग परिकल्पनात्मक रूप से 'नाट्यशास्त्र' के साथ प्रचलित हुआ है। प्राचीन काल में नाटक को 'खेल' अथवा 'क्रीड़ा कहा जाता था। नाट्यशास्त्र के 'नाट्यावतरण' अध्याय में इसे 'क्रीडानियक' कहा गया है। नट शब्द के कई पर्याय बताए गये हैं, जो अलग-अलग नाट्यकुल को इंगित करते हैं, जिसमें एक कुल 'नट' के नाम से विख्यात था।

लोक में 'नट' एक अभिनेता की कृति एवं व्यक्तित्व के रूप में देखा जाता है। यह नट जो क्रियाओं, प्रतिक्रियों को जन्म देता है, उसे नाट्य कहा जाता है। 'नट व्यक्तिवाचक, जातिवाचक संज्ञा है, जबकि नाट्य कृतिवाचक संज्ञा है। 'नाट्य' एक तत्व के रूप में भी विश्लेषित किया जाता है। नट द्वारा अभिनय के माध्यम से नाट्यरस का निर्माण किया जाता है।

प्र१

परंतु नाट्य बाह्य होते हुये भी अंतःनृत्य है आप इस प्रसंग को कैसे लेते हैं?

उत्तर :- नाटक की उत्पत्ति मूलतः 'नर्तन' से ही हुई है, यह मेरी धारणा है। पृथ्वीतल पर मनुष्य ने अपनी पहली संवेदना शरीर के नृत्यात्मक अंगविक्षेप के द्वारा

व्यक्त की होगी। जिसे शास्त्र में 'नृत्त' कहा गया है। वेदों में नृत्त, नृत्य के कई संदर्भ मिलते हैं। 'नटराज' भी नृत्य का पर्याय है। आदिवासी नृत्य तो अति प्राचीन है। मोहंजोदड़ो-हड़प्पा में प्राप्त नृत्य करती ललनाएँ आदिम नृत्य का प्रतीक है। शैलचित्रों में भी नृत्य की भंगिमाएं मिलती हैं। नृत्य से (नृत्त से) ही नाट्यकला का विकास हुआ। नाट्यकला स्वयं पूर्ण रूप से विकसित होने के बाद नृत्यकला भी स्वतंत्र कला रूप में स्थापित हुई।

भरत ने कहा है, ऐसी कोई कला नहीं जो नाट्यकला में सम्मिलित न हो। नाट्यकला सभी ललित कलाओं का मिश्रण है, इसलिए उनमें अंतरसंबंध अनिवार्य रूप से है ही और लय तथा ताल तत्व सभी को अंतर्गत रूप से बांध रखता है। आपने एक सटीक वाक्य में "नाट्य बाह्य होते हुए भी अंतःनृत्य है" कहा है, यह एकदम सही है। नृत्य में भी नाट्यतत्व निहित होते ही हैं। भरत ने जिन अंगहार, करण, मुद्राओं, चेष्टाओं का वर्णन किया वह तो नृत्य का भी मूलाधार है। और लय तत्व जो सौंदर्यशास्त्र अनिवार्य एवं अहम इकाई है, वह नृत्य में भी है, नाटक में भी है। मैं नृत्य के नाटक की भाषा को समझने की चेष्टा करता हूँ। नृत्य मेरी विशेषज्ञता नहीं है, इसलिए मैं उस पर कोई टिप्पणी नहीं करना चाहूंगा, पर दर्शक के रूप में मुझे शास्त्रीय और लोकनृत्य दोनों पसंद हैं। मैं लोक नृत्य में अपने आपको अधिक 'सहज' पाता हूँ। प्रयोगशील नृत्य में मुझे उदयशंकर की शैली पसंद है। शास्त्रीय नृत्य में कत्थक और भरत नाट्यम भी। पर मेरी यह अपनी राय केवल एक दर्शक के रूप में है।

निर्देशक के तौर पर भारतीय लोकनाट्य में प्रयुक्त लोकशैली अधिक पसंद है, चाहे वह यक्षगान हो या फिर छाऊ, खयाल हो या माच, थांग-ता आदि, क्योंकि नाटक के संदर्भ में मैं उसके प्रयोगित मूल्य को महत्वपूर्ण मानता हूँ। कभी अवसर मिला तो इनमें से किसी शैली का मैं ज़रूर उपयोग करना चाहूँगा।

प्र९

चुना, जबकि अन्य नाट्य विषय भी प्रासंगिक हैं। अपना मनोगत स्पष्ट रूप से बताएं ताकि शोध प्रज्ञा को अभिनय प्रज्ञा में तब्दील करने की कला सब में जीवंत हो जाये।

उत्तर :- 'थिएटर ऑफ द एब्सर्ड का मराठी रंगमंच पर प्रभाव : विश्लेषणात्मक अध्ययन' यह मेरे पीएच.डी. का विषय था। जब मैं नागपुर विश्वविद्यलय में मास्टर ऑफ द फाईन आर्ट्स (नाट्यकला) की पढ़ाई कर रहा था। उस समय 'एब्सर्ड थिएटर' विषय मेरे पाठ्यक्रम में था। इस बहाने अस्तित्ववाद, एब्सर्डीज़म, एब्सर्ड थिएटर, सेम्युअल बेकेट, यूजीन आइनेस्को के नाटक, अल्बेयर कामू, ज्यां पॉल सार्त्र

के आलेख, उनकी जीवनी पढ़ने का मौका मिला। मार्टिन एस्लीन की पुस्तक 'थिएटर ऑफ एब्सर्ड' ने भी काफी प्रभावीत किया। वर्ष १९८८-१९८९ में नसिरुद्दीन शाह तथा बेन्जामिन गिलानी अभिनित 'वेटिंग फॉर गोदो' देखने-समझने का अवसर मिला। धीरे-धीरे यह विषय मुझे शोध के लिए एक संभावनापूर्ण विषय लगने लगा। असल में इस विषय पर शोध करना मेरे लिए चुनौती बन गया था। करीबन दो वर्ष की चिंतन-प्रक्रिया के बाद मैंने तय किया, कि बस यही विषय मेरे शोध के लिए एक सार्थक विषय होगा।

प्र१

सामान्य जीवन में इसकी व्यावहारिकता क्यों नहीं समझते?

उत्तर :- परकाया प्रवेश अभिनय की एक प्रक्रिया है, परंतु रस निष्पत्ति के लिए अभिनेता को सामान्यतः आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक इस चतुर्दिक अभिनय विधा से गुज़रना पड़ता है। चतुर्दिक अभिनय के लिए उसका प्रदर्शन होना अनिवार्य है। यह एक प्रदर्शनकारी ललित कला है, जो हमारे जीवन का, जीवन व्यवहार का अभिन्न अंग है। सामान्य जीवन में जाने-अनजाने में हम अभिनय कला का प्रयोग करते हैं। किंतु यह कोई नाट्य प्रदर्शन नहीं होता है। असल में नाट्य प्रदर्शन के साथ अभिनय कला की परिभाषा, उसके मायने और औचित्य का रूप-स्वरूप बदल जाता है। लोक उसकी व्यावहारिकता को समझते हैं। उसका प्रयोग भी करते हैं, पर कला के रूप में उसका प्रदर्शन नहीं करते, बस यही मुख्य फ़र्क है।

संवेदनशीलता, रसिकता, कलाप्रेम, सहृदयता यह व्यक्तित्व की विशेषताएं हैं। परिवेश, संस्कार में यह विशेषताएं संवेदनाओं का रूप धारण करती हैं। यहीं से समरसता की प्रक्रिया प्रारंभ होती है, जो जीवन को आसान और संपन्न बनाती है। 'अभिनय' हर मनुष्य प्राणी को आता है, तभी तो नाटक, सिरियल्स, फिल्में लोग पसंद करते हैं। असल में 'अभिनय' अभिव्यक्ति का माध्यम है। अभिनेता के साथ दर्शकों का भी यह आंतरिक अभिव्यक्ति का माध्यम है। अर्थात यह एक दूसरे के पूरक है।

प्र१

इसलिए अर्थ की सहोदरता होते हुए भी दोनों दो भावार्थ रखते हैं।

उत्तर :- नाट्य और अभिनय परस्पर पूरक तत्व हैं। नाट्य अभिनय का आधार है और अभिनय के बगैर नाट्य को प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। नाट्य की नाट्यात्मकता अभिनय को पूर्णता प्रदान करती है। निश्चित रूप से यह दोनों तत्व सहोदर हैं और भावार्थ उसके स्वरूप पर निर्भर है। नाट्य एक व्यापक वस्तु है। लेखन, निर्देशन, प्रस्तुति स्तर यह एक क्रिया-प्रक्रिया है। नाट्यात्मकता को नाट्य

क्रियान्वित कर अभिनय क्रिया को अधिक सशक्त बनाता है। नाट्य अभिनय को अधिक अवसर प्रदान करता है।

शास्त्रीय स्तर पर समझना है तो भरत के नाट्यशास्त्र में उसे विश्लेषित किया गया है। कारक (नाट्य), कार्य (अभिनय) के रूप में उसका स्थान और महत्व स्पष्ट किया गया है। अभिनय की अंतर्वस्तु को भी नाट्य कहा जा सकता है। तो नाट्य की व्यवहार पूर्ति हम अभिनय के माध्यम से देख सकते हैं। जैसा कि पहले कहा है, ये नाटक के अभिन्न अंग है, उसका पृथक रूप से विचार संभव नहीं है।

प्र१

प्राप्त हुई? भरत के नाट्यशास्त्र में ऐसा क्या है जिसकी प्रतिपूर्ति लगभग सभी नाट्यशास्त्री करते हैं?

उत्तर :- नाट्यविद्या एक शास्त्रीय विद्या और विधा है, भरत का नाट्यशास्त्र उसकी परिणति है, जिसमें नाट्य को एक शास्त्र के रूप में निरूपित और विकसित किया गया है। नाट्य कला भी है, काव्य भी है और शास्त्र भी। नाट्यविद्या के कुछ नियम हैं, कानून है, पद्धति है, जो एक वैज्ञानिक प्रारूप है। अभिनय के परिप्रेक्ष्य में उसको प्रयुक्त किया जाता है। पांचों ललित कला के शास्त्रीय उपागम उसमें निहित हैं, जिसके आधार पर निश्चित पद्धति से उसे अभिव्यक्ति दी जाती है। यही नाटक की अनुशासनिकता है। इस अनुशासन की चर्चा भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में की है।

नाट्यशास्त्र नाट्य, नाटक और अभिनय का शास्त्र है, अपने आप में वह रंगकर्म का बृहद विश्वकोष है, संग्रह है। नाटक का अनुशासन ग्रंथ है। समय काल के अनुसार उसकी प्रासंगिकता और उपयोगिता पर प्रश्न खड़े किये जा सकते हैं। उसे परिष्कृत कर उसे उपयोग में लाया जा सकता है। संपादित कर उपादेयता का निर्णय लिया जा सकता है। एक आधार ग्रंथ के रूप में उसकी उपयोगिता निश्चित तौर पर है। सामाजिक उपयोगिता के परिप्रेक्ष्य में उसका अनुशीलन आवश्यक है। उसके लोकतत्व को समझना आवश्यक है। असल में यह शास्त्र लोकनाट्य शास्त्र से ही सिद्ध हुआ है, उसकी मूल धरोहर ही लोक है। मैं इस दृष्टि से नाट्यशास्त्र को एक महत्वपूर्ण दस्तावेज़ मानता हूँ।

प्र१

स्वीकारोक्ति में आप कहाँ तक सहमत हैं? आप अपने जीवन कर्म एवं रंगकर्म के अनुभव से बताएं।

उत्तर :- "दुनिया एक रंगमंच है और हम सभी उसके अभिनेता हैं।" यह शेक्सपियर का विश्व का सर्वश्रेष्ठ संवाद है, जो नाटक और रंगमंच की सार्थकता को

सिद्ध करता है। नाटकीय चेष्टाओं के द्वारा ही मनुष्य का आदिम काल में विकास हुआ है। नाटक एक केवल कला मात्र ही नहीं बल्कि जीवन का अभिन्न अंग है। जीवन की यह सहज प्रेरणा तथा अंतःप्रेरणा भी है। इसलिए हमारा जीवन एक नाटक से कम नहीं है और बखूबी 'सिसिफस' की तरह हम अपना जीवन जीते हैं। उसे अर्थपूर्ण बनाने की कोशिश करते हैं। यह एक 'नट' का ही कार्य है।

नाटक असल में जीवन की प्रतिकृति होती है। और हम सभी जीनेवाले लोग अपनी-अपनी विशेषताओं के साथ, गुणावगुण के साथ, अपनी क्षमता के साथ नट ही होते हैं। हम प्रसंग, स्थितियां, परिवेश, अवस्था में आवश्यकतानुसार हाव-भाव प्रकट करते हैं। कभी-कभी सहज रूप में तो कभी अभिनिवेश के साथ या फिर कोई 'पोज़' लेकर अर्थात् आरोह-अवरोह, लय-ताल, विराम-घात, पोश्चर-गेश्चर, दृष्टि-सृष्टि, संवाद-मौन, गति-जड़ता, पंचतत्व के साथ, शरीर योग, मनोयोग के साथ अपने आपको अभिव्यक्त करते रहते हैं। जीवन व्यवहार को ही तो हम निभाते हैं। यह व्यवहार अपने आप में एक नाटक ही होता, हम यह नाटक रोज़ करते रहते हैं।

प्र९

रहता है उसे वह अपनी भूमिका में स्पष्ट कर देता है। नाट्य निर्देशक उसके साथ कितना सहकर्म करता है, यह आप अपने अनुभव के आधार पर बताएं।

उत्तर :- रंगनिर्देश मुख्यतः नाटककार अपने नाटक में सर्वप्रथम प्रयुक्त करता है, जिसमें लेखक का अपना दृष्टिकोण, अपनी कल्पनाशीलता और अपनी दृश्यात्मकता निहित होती है। जिससे निर्देशक को मदद मिलती है। पर निर्देशक भी जब प्रदर्शन संहिता बनवाता है तो अपने रंगनिर्देशों का प्रयोग करता है। कई बार उनमें बहुत फ़र्क होता है, क्योंकि निर्देशक उन रंगनिर्देशों का रंगमंचीय प्रतिमानों के साथ प्रयोग में लाता है। सहसा नाटककार वह नहीं देख पाता है। किंतु नाटककार के सभी निर्देश त्याज्य ही हों ऐसा नहीं होता है। कुशल निर्देशक नाटककार के निर्देशों को सम्मानपूर्वक स्वीकार कर अपनी दृष्टि से उसको व्यवहार में लाता है, तो कई बार अपने रंगनिर्देशों को स्थापित कर लेखक के रंग निर्देशों को नकार भी देता है।

जहाँ तक बतौर निर्देशक मेरी अपनी बात है, तो उन रंगनिर्देशों के माध्यम से मैं नाटककार, उसके उद्देश्यों को समझने का प्रयास करता हूँ। उपयुक्त लगे तो मैं उसे प्रयोग में लाता हूँ। अन्यथा अपने रंगनिर्देशों का उपयोग करता हूँ। लेखक के नाट्योद्देश्य का पुनःनिर्माण करना, पुनर्निर्वचन करना ही तो नाटक को न्याय देना है। पर अंततः नाट्यप्रस्तुति निर्देशकीय दृष्टि से होती है, तो यह निर्णय निर्देशक पर छोड़ देना चाहिए।

प्र९

काव्यपंक्तियों के आधार पर आषाढ़ का एक दिन की मल्लिका का जीवन यथार्थ फलीभूत होता है। आपका 'आषाढ़ का एक दिन' के प्रति क्या प्रतिफल है?

उत्तर :- 'आषाढ़ का एक दिन' मेरे सबसे पसंदीदा नाटकों में से एक है। अलग-अलग कलाकारों को लेकर अब तक तीन बार इसका मंचन कर चुका हूँ। पर आज भी मन नहीं भरा है। यह एक चुनौतीभरा परिपूर्ण नाटक है। इस नाटक में 'मल्लिका' को मैं एक शाश्वत 'तत्व' और 'सत्य' के रूप में देखता हूँ। कालिदास एक 'प्रवृत्ति' और 'स्थिति' मात्र है। "रिश्तों का रूप बदलता है, बुनियादें खत्म नहीं होती" मैं इस काव्यपंक्ति को केवल रिश्तों के संदर्भ में नहीं बल्कि मानवीय जीवन, उसके यथार्थ और सामाजिक दर्शन के रूप में देखता हूँ। नाटकीयता के बाद भी मैं मल्लिका-कालिदास के रिश्तों को बेमानी मानता हूँ। क्योंकि कालिदास जैसे चरित्र की बुनियाद ही कालिदास है। कालिदास का पुरुष ही है। मल्लिका एक बड़ा अवकाश है। जो कालिदास भर नहीं सकता, न वह क्षमता उसमें है। जबकि विलोम यह कोशिश करता है। मुझे तो विलोम ही असली नायक महसूस होता है। विलोम एक पूर्ण पुरुष है, स्थायित्व है, तो कालिदास प्रवासी है, क्षणभंगुरत्व है। मल्लिका एक शाश्वत रिश्तों का प्रतीक है।

'आषाढ़ का एक दिन' असल में सपाट, सीधे समीकरण का नाटक है। जिसमें प्रेम का त्रिकोण है, पर इस नाटक में व्यापक तात्विक समीकरण है। एक प्रमेय के रूप में, एक दर्शन के रूप में इस नाटक को देखा जाना चाहिए। मुझे तो यहां मल्लिका एक शाश्वत मानवी मूल्यों के, शाश्वत मानवीय चिंतन के, शाश्वत मनुष्यता के प्रतीक के रूप में दिखाई देती है। मुझे मल्लिका 'लेडी सिसिफस' के रूप में दिखाई देती है। यह मल्लिका के जीवन का यथार्थ है। एक सक्षम स्त्री के रूप में भी उसका किरदार उभरता है। जीवन के प्रति विपरीत स्थितियों के बाद भी मल्लिका एक व्यापक मनुष्यता का प्रतिनिधित्व करती है। मल्लिका ऐसे ही व्यापक, गहन और संघर्षरत बुनियाद की मिसाल है। इस नाटक के बारे में जितना बोला जाए, लिखा जाए, शायद कम ही होगा।

प्र९

के बारे मे बताएं जो आपको सबसे ज़्यादा अपील करता हो? कारण सहित बताएं।

उत्तर :- विश्व ने प्रथम विश्व युध्द की विभीषिका झेली। उसके परिणाम खत्म नहीं हुए और दुनिया पर दूसरा विश्व युध्द थोपा गया। हिरोशिमा-नागासाकी पर फेंके गये 'अणुबम' ने दुनिया का चरित्र और चेहरा दोनों को बदल दिया। मनुष्य का 'क्षुद्रत्व'

स्पष्ट हो गया। संप्रदायवादी वासनाओं में आम आदमी का दम घुटता गया। जीवन की आस्थाओं पर विश्वास उठने लगा। मूल्य नाकाम होते दिखने लगे। मानवीय अस्तित्व पर ही प्रश्न चिन्ह लगने लगे। जीवन विसंगतियों का भंडार बन गया। संवेदनशीलता मानसिक बिखराव को बढ़ाने लगी। जीवन एब्सर्ड है, विसंगत है, निरर्थक है, ये भावनाएं बढ़ने लगीं। भाषा, शब्द या किसी शैली में इस अवस्था को रखना असंभव हो गया। कला के, अभिव्यक्ति के, एहसास के, अनुभूति के मायने बदल गये। दूसरे महायुद्ध के 'नरसंहार' ने मनुष्यता का संहार कर दिया। जिसकी एक परिणति परिणाम था, एब्सर्ड थिएटर!'

'वेटिंग फॉर गोदो' एब्सर्ड थिएटर का सबसे सटीक नाटक है। 'थिएटर ऑफ द एब्सर्ड' के पर्याय के रूप में इस नाटक को देखा जाता है। शैली, शिल्प, भाषा, चरित्र, नाट्यगत संघर्ष, तथ्य, कथ्य सभी दृष्टि से यह एक विशेष नाटक है। हर निर्देशक इसका मंचन करना चाहता है। आज विश्वभर में उसके सर्वाधिक अनुवाद तथा मंचन हुए हैं, जो अपने आप में रंगमंचीय रेकॉर्ड है। पर आपने अपील की बात की है, तो मुझे 'गोदो' नाटक से भी यूजीन आईनेस्को के नाटक 'गैंडा' ने ज़्यादा प्रभावित किया है। 'गैंडा' एक प्रतीक है, जो खत्म होती सृजनशीलता, संवेदनशीलता और संवादहीनता को अभिव्यक्त करता है। सबसे विशेष बात यह है कि अल्बेअर कामू ने जो अपनी पुस्तक 'द मिथ ऑफ सिसिफस' में आधुनिक मनुष्य की 'नियति और नियत' को जिस 'प्रमेय' के रूप में रखा, उस प्रमेय में 'गैंडा' नाटक परिपूर्ण रूप से सटीक बैठता है। मिथ ऑफ सिसिफस एब्सर्ड थिएटर की आधारशिला है। मैं एक निर्देशक के रूप में 'गैंडा' नाटक में ढेर सारी संभावनाएं देखता हूँ। ऊपरी तौर पर तो यह नाटक यथार्थवादी लगता है, पर असल में यह नाटक अतियथार्थवादी एब्सर्ड नाटक है।

'गोदो' और 'गैंडा' में मैं तुलना नहीं करना चाहूँगा। दोनों ही सर्वश्रेष्ठ नाटक हैं। पर एक निर्देशक के रूप में दर्शकों की समझ और क्षमता को ध्यान में रखकर मैं सोचता हूँ, तब भारतीय परिप्रेक्ष्य में मैं गैंडा नाटक को अधिक 'रिलेवंट' मानता हूँ। आम आदमी तक भी इस नाटक के तथ्य और कथ्य को रंगमंचीय प्रतिमानों के साथ प्रभावी तरीके से पहुंचाया जा सकता है।

प्र९

सहकर्म एक-सा है? अगर है तो कैसे एवं नहीं तो कैसे? जबकि दानों दो भिन्न विधाएं हैं।

उत्तर :- फिल्म और नाटक दो अलग-अलग माध्यम हैं, भिन्न विधाएं हैं, उनकी

तकनीक, उनका शास्त्र और पद्धति अलग है। अभिनय के रूप-स्वरूप और आवश्यकताएं भिन्न-भिन्न हैं। लेकिन मूलतः अभिनय तत्व एक ही है। केवल प्रयोग और प्रस्तुति करने के तरीके भिन्न होते हैं। नाटक में 'लाऊडनेस' है तो फिल्मों में 'अंडरटोन', नाटक में 'ब्रॉडनेस' है तो फिल्मों में सूक्ष्मता है। फिल्मों में 'फ्रेम' की, शॉट के पद्धति की मर्यादा है तो नाटक में यह मर्यादा नहीं है। यह सीमाएं खासकर तकनीकी संदर्भ में हैं। दूसरी बात, नाटक में कोई 'रिटेक' नहीं, यहां जीवंतता ही मायने है, फिल्मों में आप 'रिटेक' से तत्काल अभिनय में सुधार ला सकते हैं। केवल माध्यम का, तकनीक का फ़र्क है। उसी के अनुसार अपना अभिनय कौशल प्रयोग में लाया जा सकता है।

नाटक में अभिनय का पूर्व प्रशिक्षण, अभ्यास अत्यावश्यक है। फिल्मों में शॉट के दौरान आपसे (अगर मूलतः अभिनय कला से अवगत हों तो) चाहे वैसा अभिनय निर्देशक करवा सकता है। नाटक का अभिनेता दोनों विधाओं में अपना काम बखूबी कर सकता है, पर केवल फिल्मों में काम करनेवाले कलाकार नाटक में अपना बेस्ट कई बार नहीं दे पाते। नाटक कलावाला अभिनेता कई बार फिल्मों में अपनी अलग छाप छोड़ जाता है। क्योंकि नाट्य अभिनय के मूलतत्व अधिक प्रभावी होते हैं।

प्र९

को। दोनों को एक अनुशासन में बांधना दो दिशाओं का एक ध्रुव बनाना है। इस विधा के शिक्षक होने के नाते आपको कैसा महसूस होता है? अपनी सहमति एवं असहमति के बारे में स्पष्ट बताएं।

उत्तर :- शास्त्रीयता तो दोनों विधाओं का मूल है। और कलात्मक तकनीक भी इन दोनों विधाओं की आवश्यकता है। प्रायोशिलता के संदर्भ में फिल्म के फॉर्मेट में नाटक और नाटक के फॉर्मेट में फिल्म की प्रस्तुति संभव है। १९७० के दशक में जो समानांतर, कला फिल्मों का दौर आया था। उसमें कई फिल्में नाटक के फॉर्मेट के अनुसार बनाई गयीं। हाल ही में मैंने नादिरा बब्बरजी का 'फूट नोट्स ऑफ लाईफ' नाटक देखा। मराठी फिल्मकार गजेंद्र अहिरे का 'शेवग्याची भाजी', भगवान हीरे का 'रातमतरा', डॉ. विवेक बेळे का 'अ डेथ ऑफ अ कॉन्करर' आदि नाटक देखे। इन सभी नाटकों का निर्माण फिल्मों की तकनीक का उपयोग कर किया गया।

मैं प्रयोगशीलता को अधिक महत्व देता हूँ पर फिल्म का अर्थव्यवहार सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। कई बार यह प्रयोग फिल्मों के स्तर पर स्वीकारे नहीं जाते। अंधायुद्ध पिंक, रोड टू संगम, मसान, निल बटे सन्नाटा, बदला जैसी फिल्में हिम्मत का काम है। कला फिल्मकारों ने यह हिम्मत दिखाई थी। मैं अच्छी फिल्म, अच्छा नाटक,

सार्थक नाटक में विश्वास रखता हूँ। जहां समाज की बात हो, सामाजिक सरोकार की बात हो।

प्र१

अवाचिक अभिनय दोनों को प्रभावित करती है। आप अपनी नाट्य प्रस्तुति में इसका निर्वहन किस आधार पर करते है?

उत्तर :- रंगभाषा एक व्यापक परिकल्पना है, जो प्रस्तुतिपरक है। परिपूर्ण रंगभाषा एक व्यापक संज्ञा भी है जो प्रस्तुति की सभी इकाइयों का मिश्रण है। इसलिए रंगभाषा रंगतदार होना आवश्यक है। निश्चित तौर पर रंगभाषा में रंगत न हो तो वह वाचिक-अवाचिक दोनों माध्यमों को प्रभावित करती है। रंगभाषा असल में निर्देशक की भाषा है। निर्देशक के रूप में नाट्यपाठ को रंगपाठ में प्रभावी रूप से परिवर्तित करना आवश्यक है।

बतौर निर्देशक मैं नाटक की, अपने प्रदर्शन की नाट्य संहिता (निर्माण आलेख) प्रथम तैयार करता हूँ, जिसके कारण नाटक की दृश्यात्मकता को अधिक प्रभावी बना सकता हूँ। मेरे लिए नाटक, रंगमंचीय इकाइयों का पूर्ण उपयोग कर, प्रस्तुत की जानेवाली दृश्यात्मक-प्रदर्शनात्मक विधा है और रंगभाषा उसे अधिक मुखर करती है। रंगभाषा एक रंगमंचीय सौंदर्यशास्त्र का विधान है, जिस पर नाटक की परिपूर्णता अवलंबित है। मैं प्रस्तुति प्रक्रिया में उस पर अधिक ध्यान केंद्रित करता हूँ। क्योंकि नाटक के कथ्य को अधिक सुंदर, अधिक प्रभावी लक्षणीय बना सकूं।

प्र१

नाट्य दृष्टि से स्पष्ट करते हुए बताएं कि आप किस विधा से प्यार करते हैं?

उत्तर :- धर्मवीर भारती जी का अंधायुग नाटक भारतीय रंगमंच की एक अपूर्व धरोहर है। असल में यह एक दीर्घ कविता है, जो अपने आप में एक वैश्विक चिंतन है। उसकी प्रासंगिकता कालातीत है। नाट्यशास्त्र के आधार पर इसकी शास्त्रीयता को निर्वचित करना योग्य नहीं है। नाटक में काव्य और काव्य में नाटक अपने आप में वे एक दूसरे के पर्याय हैं। महाभारत की कथावस्तु को लेकर उसको आधुनिक परिप्रेक्ष्य में निरूपित करने का कार्य भारती जी ने किया है। काव्यदृष्टि और नाट्यदृष्टि का यह नाटक एक आदर्श मिसाल है। उसमें रंगमंचीय प्रयोगों की संभावनाएं कूट कूट कर भरी है। इस नाटक की सबसे बड़ी ताकत ही काव्यात्मकता है। नाट्यशास्त्र को मुख्य काव्य ही कहा गया है। काव्यशास्त्र में भी नाट्यशास्त्र का विचार काव्य के रूप में किया गया है। इस दृष्टि से नाटक अपने आप में एक श्रेष्ठ काव्य है। मेरी दृष्टि में अंधायुग एक श्रेष्ठतम नाट्यकाव्य है।

नाटक और काव्य इस विधा को हम एक दूसरे से अलग नहीं कर सकते। मैं नाट्यात्मक काव्य और काव्यात्मक नाटक दोनों को ही पसंद करता हूँ। काव्यात्मकता संवेदना का, लय-ताल का एक नाम है। एक अनुभव, अनुभूति का नाम है। गद्य भी एक अच्छा नाटक साबित हो सकता है। बशर्ते की उसमें काव्यात्मकता हो, अंततः अंधायुग एक श्रेष्ठ नाटक है।

प्र१

को आप कैसे अनुभव करते है?

उत्तर :- मूलतः मैं निर्देशक हूँ। मेरे नाट्य लेखन पर भी निर्देशक हावी होता है। ज़रूरत ने मुझे नाटककार बनाया है। पर आज मुझमें नाटककार निर्देशक एक ही रूप में अस्तित्व में है। वे एक दूसरे को मदद करते है। नाटक लिखते समय कोई नाट्यबीज सालों से मन में अपनी पैंठ बनाये रहता है। लिखते समय अपने आप ही मेरा निर्देशक, मेरे नाटककार के सामने रंगमंचीय दृश्यात्मकता को रखता है। रंगमंच के सिद्धांत, रंगमंचीय प्रतिमान, रंगमंच की आवश्यकता अपने आप एक दूसरे की सहायता करना शुरू कर देते हैं।

मूलतः सामाजिक प्रतिबद्धता मेरे व्यक्तित्व का अभिन्न अंग है। इसलिए मेरे नाटक सामाजिक होते हैं। चरित्रात्मक और प्रयोगशील नाटकों की ओर मेरा रूझान अधिक रहा है। उसमें भी मैं अपनी सामाजिक प्रतिबद्धता को अग्रक्रम देता हूँ। भावनात्मक पक्ष के साथ 'अनुसंधान' को भी मैं महत्व देता हूँ। हर नाटक मेरे लिए एक अनुभव होता है और यही नाट्यानुभव मेरे रंगव्यक्तित्व को संपन्न बनाते हैं।

प्र१

उत्तर :- प्रसादजी, मेरे लिए रंगकर्म एक ऊर्जा का नाम है। यही ऊर्जा मेरे जीवन को संबल देती है। रंगमंच केवल एक काल्पनिक दुनिया नहीं है। यह जीवन का दर्शन होता है। मानवीय भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है। रंगकर्म जीवन का एक ऐसा आईना है जो आपको जीवन के सत्य से रू-ब-रू कराता है। यह एक प्रति विश्व है, दूसरी दूनिया है जो रंगकर्मी अपने अनुभव, अनुभूति, एहसास के आधार पर खड़ा करते हैं। हम जीवन को रंगमंच से और रंगमंच को जीवन से अलग नहीं कर सकते।

मेरी रंगयात्रा भी मानवीय अभिव्यक्ति की यात्रा है। अपने अनुभव, अनुभूति, एहसास की यात्रा है। मुझ में 'आषाढ़ का एक दिन' है, 'अंधायुग' है। मेरे भीतर हानूश है, 'अंधेरे में' है, 'लहरों का राजहंस' मुझ में समाया है। मैं ही 'गोदो' की प्रतिक्षा कर रहा हूँ। मुझे ही 'एन इन्स्पेक्टर्स काल' का जवाब देना है। कितने ही

'तुगलक', 'घासीराम', 'आगरा बाजार' मेरे आसपास हैं। कभी 'कर्फ्यू', कभी 'रूदाली', कभी 'कोर्ट मार्शल' तो कभी 'मोहनदास' मुझे आवाज देते हैं।

मेरा जीवनकर्म एक खोज की यात्रा है, यह खोज उन सारे चरित्रों के माध्यम से निरंतर जारी है। रंगमंच की सारी संभावनाओं को टटोलना सामाजिक प्रतिबद्धता के साथ उसे निर्वाचित करना, निरूपित करना मेरा उद्देश्य है। जब भी मैं कोई नाटक चुनता हूँ तो वह मुझे ही अपना सहचर बना लेता है। मैं एक नाटक और निर्देशक के आत्मसंवाद को महत्वपूर्ण मानता हूँ। अब तक निर्देशित किए सभी नाटकों से मेरा यह नाता रहा है।

निर्देशन की प्रक्रिया मेरे लिए एक पुनर्जन्म की प्रक्रिया होती है। एक नये विश्व का निर्माण मुझे करना होता है। मैं विश्वकर्मा बन जाता हूँ। यह अवसर मुझे केवल मेरा रंगकर्म ही देता है। आत्मीय समाधान, सर्जनात्मक आनंद देने का कार्य भी मेरा रंगकर्म करता है। यह मुझे दुनिया को पढ़ने का, समझने का अवसर भी देता है। इसलिए रंगकर्म ही मेरा जीवनकर्म है और मेरा जीवन कर्म ही मेरा रंगकर्म है। मैं इन कर्मों के अलावा केवल शून्य मात्र हूँ।

(यह साक्षात्कार मासिक पत्रिका समावर्तन के 'रंगशीर्ष' में अप्रैल २०१७ के विशेष अंक में प्रकाशित है।)

■■■

परिशिष्ट

- प्रकाशित पुस्तकें
- प्राप्त पुरस्कार / सम्मान

डॉ. सतीश पावडे की प्रकाशित पुस्तकें

क्र.	शीर्षक	प्रकाशक	वर्ष
१.	रंग विमर्श (समीक्षा)	आकार पब्लिकेशन, नागपुर	२०२०
२.	एका सायंकाळची गोष्ट (रुपांतर)	नभालय प्रकाशन, अमरावती	२०१९
३.	द थिएटर ऑफ द ॲब्सर्ड (समीक्षा)	विजय प्रकाशन, नागपुर	२०१८
४.	नाट्य प्रसंग (समीक्षा)	आकार पब्लिकेशन, नागपुर	२०१८
५.	जय भीम-जय भारत (संपा. फोटो बुक)	आकार पब्लिकेशन, नागपुर	२०१८
६.	अंधार पाहिलेला माणूस : लोकसंत गाडगेबाबा (नाटक)	पायगुण प्रकाशन, अमरावती	२०१७
७.	ढिगारा (नाटक)	नभ प्रकाशन, अमरावती	२००८
८.	जिजाऊ मांसाहेब (चरित्र)	साहिल मीडिया प्रकाशन, अमरावती	२००८
९.	शिवकल्याणी माँ जिजाऊ (नाटक)	नभ प्रकाशन, अमरावती	२००८
१०.	गाडगेबाबांचे अखेरचे कीर्तन (समीक्षा)	नभ प्रकाशन, अमरावती	२००७
११.	आद्य मराठी नाटक तृतीय रत्न (समीक्षा)	नभ प्रकाशन, अमरावती	२००७
१२.	त्या एका क्षणी (भाषांतर)	पुष्प प्रकाशन, पुणे	२००६
१३.	शिवकुलभूषण राजा संभाजी (नाटक)	साहिल मीडिया प्रकाशन, अमरावती	२००५
१४.	संगीत सूर्य केशवराव भोसले (चरित्र)	साहिल मीडिया प्रकाशन, अमरावती	२००४
१५.	लोकसंत गाडगेबाबा (चरित्र)	मॅकमिलन प्रकाशन, पुणे	२००३
१६.	चक्रव्यूह (एकांकिका)	अक्षय प्रकाशन, पुणे	२००१
१७.	फास (एकांकिका)	अक्षय प्रकाशन, पुणे	२००१
१८.	अंधारवेणा (एकांकिका)	अक्षय प्रकाशन, पुणे	२००१
१९.	क्रांतयोगी गाडगेबाबा सहलेखक (नाटक)	ऋचा प्रकाशन, नागपुर	१९९९
२०.	युग निर्माता - डॉ. पंजाबराव देशमुख (नाटक)	नभ प्रकाशन, अमरावती	१९९७
२१.	नाट्यचर्चा	समीक्षा	आगामी प्रकाशन
२२.	मराठी रंगभूमी आणि ॲब्सर्ड थियेटर	समीक्षा	आगामी प्रकाशन
२३.	एक बार फिर गोदो (भगवान हिरे)	नाट्यरूपांतर	आगामी प्रकाशन
२४.	वह गंदी गली (मैक्झिम गॉर्की)	नाट्यरुपांतर	आगामी प्रकाशन

डॉ. सतीश पावडे को प्राप्त पुरस्कार

क्र.	शीर्षक	संस्था / प्रतिष्ठान	वर्ष
१.	उत्कृष्ट साहित्य निर्माण पुरस्कार	महाराष्ट्र सरकार	२०२०
२.	विशेष उल्लेखनिय लेखन पुरस्कार	विदर्भ साहित्य संघ, नागपुर	२०२०
३.	उत्कृष्ट नाट्य समीक्षा पुरस्कार	सूर्यकांतादेवी पोटे चॅरिटेबल ट्रस्ट, अम.	२०१९
४.	श्रमिक विश्व नाट्यगौरव पुरस्कार	कामगार संघटना संयुक्त कृती समीती, वर्धा	२०१९
५.	श्रेयस नाट्यगौरव पुरस्कार	श्रेयस वाचनालय, हिंगणाघाट	२०१८
६.	सर्वोत्कृष्ट नेपथ्यकार पुरस्कार (गल्ली या नाटकासाठी)	राज्य नाट्य महोत्सव, अमरावती केंद्र	२०१६
७.	उत्कृष्ट शिक्षक सन्मान	म.गां. आंतरराष्ट्रीय हिंदी विद्यापीठ, वर्धा	२०१५
८.	वाङ्मय सेवा पुरस्कार	वाङ्मय सेवा प्रकाशन, नाशिक	२००९
९.	ज्ञानतपस्वी डॉ. श्रीकांत जिचकार सन्मान	डॉ. श्रीकांत जिचकार प्रतिष्ठान, अमरावती	२००९
१०.	राष्ट्रमाता जिजाऊ पुरस्कार	जिजामाता सेवाभावी संस्था, नांदेड	२००८
११.	'पीपल्स कनेक्ट'साठी नामांकन	रिलायन्स कम्युनिकेशन, मुंबई	२००७
१२.	पु.भा. भावे नाट्य समीक्षा पुरस्कार	पु.भा. भावे प्रतिष्ठान, मुंबई	२००४
१३.	मामा वरेरकर उत्कृष्ट नाट्यलेखन पुरस्कार	सांस्कृतिक वाचनालय, महाराष्ट्र शासन, मुंबई	
१४.	उत्कृष्ट नाट्यलेखन पुरस्कार	कामगार कल्याण मंडळ, मुंबई	२००२
१५.	कलागौरव पुरस्कार	युनेस्को क्लब्स, विदर्भ	२००१
१६.	उत्कृष्ट नाट्यलेखन पुरस्कार	कामगार कल्याण मंडळ, महा. अकोला	२०००
१७.	उत्कृष्ट नाट्यलेखन पुरस्कार	कामगार कल्याण मंडळ, महा. अकोला	१९९९
१८.	उत्कृष्ट नाट्यलेखन पुरस्कार	कामगार कल्याण मंडळ, महा. अकोला	१९९८
१९.	नाट्य गौरव अवार्ड	नेहरू युवा केंद्र, अमरावती	१९९७
२०.	नाट्याचार्य सोन्याबापू पुरस्कार	सोन्याबापू प्रतिष्ठान, अमरावती	१९९७
२१.	मग्नम ऑनर अवार्ड	मॅग्नम फाऊंडेशन, अमरावती	१९९६
२२.	सर्वोत्कृष्ट नेपथ्यकार पुरस्कार ('क्रांतीबा क्रांतीमा') या नाटकासाठी	महाराष्ट्र कामगार कल्याण मंडळ, नागपुर	१९९६
२३.	स्मिता पाटील स्मृती पुरस्कार	मानव मंदिर, नागपुर	१९९५

'रंग विमर्श' : अनुभवी रंग-दृष्टि का परिपाक

'रंग विमर्श' डॉ. सतीश पावड़े द्वारा नाट्य विधा पर लिखित विविध लेखों का संग्रह है । 'रंग विमर्श' का वैविध्य व्यापकता के साथ इस संग्रह में नाट्य-कला के भिन्न-भिन्न सरोकारों से पाठकों को रू-ब-रू कराता चलता है । 'कला कला के लिए' और 'कला जीवन के लिए' इन दोनों दर्शनों का प्रभावी समन्वय 'रंग विमर्श' में साकार हुआ है । भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से लेकर पाश्चात्य रंगमंच की आधुनिक तकनीक तक से परिचय डॉ. सतीश पावड़े की शोध-दृष्टि कराती है। साथ ही एक नाट्य लेखक, अनुवादक, नाट्य आलोचक एवं निर्देशक के रूप में उनके अनुभव हमें नाट्य विश्व की परिक्रमा करवाते हैं ।

प्रस्तुत संग्रह में नाट्यकला की विविधांगी विवेचना ही नहीं, अपितु नाट्य प्रशिक्षण कला की कुशलता से भी लेखक-पाठकों को अवगत कराते हैं । नाटक की सोद्देश्यता सामाजिक प्रतिबद्धता में होने के विचार-दर्शन के पक्षधर डॉ. सतीश पावड़े जब 'विकलांग दर्शकों' की अपनी वैचारिकी में महत्वपूर्ण उपस्थिति दर्ज कराते हैं , तब सचमुच हाशिये के लोगों को प्रमुख धारा में लाने की लेखक की प्रतिबद्धता परिलक्षित हो जाती है ।

मराठी रंगमंच की छटाएं, नुक्कड़ नाटक की प्रतिरोधक क्षमता एवं छद्मता, लोक रंगमंच में भारतीय दलितों एवं आदिवासियों का योगदान, झाड़ीपट्टी के नाटकों की आश्चर्यकारक व्यावसायिक क्षमता, गांधी की समीक्षा करती हिंदी-मराठी नाटकों की वैविध्य दृष्टि तो एल.जी.बी.टी. जैसे संवेदनशील विषय पर मराठी नाटकों की मुखरता को अपनी विवेच्य दृष्टि से रेखांकित करते हुए डॉ. सतीश पावड़े ने आधुनिक रंगमंच के उत्तर आधुनिक चरित्र की भी पड़ताल की है।

'रंग विमर्श' कुल मिलाकर लेखक की अनेक वर्षों की रंग-साधना का परिपाक है; प्रतिफल है, यह पाठकों को नाट्य विधा के वैविध्य से संपृक्त करते हुए उनके रंग-विश्व को निश्चित ही समृद्ध करेगी, इसकी आश्वस्ति है ...!

डॉ. सोनू जेसवानी
हिंदी आचार्य, नाट्य समीक्षक एवं शोध निर्देशक

ISBN : 978-81-922681-6-3

मूल्य : ₹ २००/-

।। शब्दसृष्टि ।।

भारतीय साहित्य, कला व सांस्कृतिक प्रतिष्ठान
बी-1301, हरी हेरिटेज, प्लॉट नं. 17 ए, सेक्टर-22,
खांदेश्वर,कामोठे, नवी मुंबई-410 209
भ्रमणध्वनि : 8108842200, 9870255527
email : shabdasrishti@gmail.com, website : www.shabdasrishti.org